दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (गुजरात) का मुखपत्र

जत्थ कुटिल परिणाम चइज्जइ ।
तहिं अज्जव धम्मुजि सम्पज्जइ ॥
सो पुण अज्जवधम्महि लब्भइ ।
अज्जवेण वयरिउ मण खुब्भइ ॥

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

आत्मधर्म [३८१]

[शाश्वत सुख का मार्गदर्शक आध्यात्मिक हिन्दी मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

क्या

१ जे सहज होरी के खिलारी
२ जिसे भव की थकान लगी हो
३ संपादकीय : उत्तम आर्जव
४ न प्रमत्त न अप्रमत्त
[समयसार प्रवचन]
५ वन्दे मुनिवरम्
[नियमसार प्रवचन]
६ धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम
[छहढाला प्रवचन]
७ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
८ चार पुरुषार्थ
९ ज्ञान-गोष्ठी
१० समाचार दर्शन
११ पाठकों के पत्र
१२ प्रबंध संपादक की कलम से

जहाँ कुटिल परिणामों का अभाव होता है वहाँ ही आर्जवधर्म प्रकट होता है। जो आर्जवधर्म को प्राप्त करता है, वह बैरियों के हृदय में भी प्रवेश पा लेता है। **- महाकवि रइधू**

(मूल छंद मुखपृष्ठ पर दिया गया है)

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३२ [३८१] अंक : ९

जे सहज होरी के खिलारी।
तिन जीवन की बलिहारी॥ जे सहज०॥
शांत भाव कुम-कुम रस चंदन,
भर समता पिचकारी।
उड़त गुलाल निर्जरा-संवर,
अंबर पहरें भारी॥ जे सहज०॥
सम्यग्दर्शनादि संग लेके,
परम सखा सुखकारी।
भीज रहे निज ध्यान-रंग में,
सुमति सखी प्रिय नारी॥ जे सहज०॥
करि स्नान ज्ञान-जल में पुनि,
विमल भये शिवचारी।
'भागचंद' तिन प्रति नित वंदन,
भाव समेत हमारी॥ जे सहज०॥

जिसे भव की थकान लगी हो.....

जिसे अनादिकालीन भव-भ्रमण की थकान लगी है, तथा जो आत्मा की लगनपूर्वक किसी भी प्रकार आत्महित साधना चाहता है - ऐसे जीव के लिये यह बात है।

चाहे जैसा बढ़िया भोजन हो, किंतु जिसे भूख ही न लगी हो, उसे कैसे भायेगा? उसीप्रकार जिसे भव की थकावट का अनुभव नहीं होता, तथा आत्मा की भूख नहीं लगी है; उसे तो आत्मा के आनंद की बात सुनने में भी अच्छी नहीं लगती, उसकी रुचि जागृत नहीं होती।

किंतु जो जीव भव-दुःख से थक गये हैं, जिन्हें आत्मशांति की तीव्र क्षुधा जागृत हुई है, जो सोचते हैं कि - 'अरे रे! यह आत्मा भव-दुःख से छूटकर चैतन्य की शांति कब प्राप्त करेगा'; वे आनंद की यह अपूर्व बात अपूर्व रुचि से श्रवण करके समझ जाते हैं और उनके भव की थकान उतर जाती है। उन्हें आत्मा की अपूर्व शांति का अनुभव होता है।

जिन्हें भव की थकान लगी हो तथा आत्मा के सुख की भूख जागृत हुई हो, उन भूखों के लिये तो यह आत्मा की बात अमृत है।

इस अमृत से अनंत भव की क्षुधा शांत होकर अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है।

—पूज्य कानजीस्वामी

सम्पादकीय

उत्तम आर्जव | एक विवेचन

यदि ऐसी बात है तो फिर तो यह बात ठीक ही है कि :—

'मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये।'

हाँ! हाँ!! ठीक है, पर किनके लिये, इसका भी विचार किया या नहीं? यह बात उनके लिये है, जिनका मन इतना पवित्र हो गया है कि जो बात उनके मन में आयी है, वह यदि वाणी में भी आ जाये तो फूलों की वर्षा हो और उसे यदि कार्यान्वित कर दिया जाये तो जगत निहाल हो जावे। उनके लिये नहीं, जिनका मन पापों से भरा है; जिनके मन में निरंतर खोटे भाव ही आया करते हैं; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का ही चिंतन जिनके सदा चलता रहता है। यदि उन्होंन भी यही बात अपना ली तो मन के समान उनकी वाणी भी अपावन हो जावेगी तथा उनका जीवन घोर पापमय हो जावेगा।

'मन में होय सो वचन उचरिये' का आशय मात्र यह है कि मन को इतना पवित्र बनाओ कि उसमें कोई खोटा भाव आवे ही नहीं।

जिनके हृदय में निरंतर अपवित्र भाव ही आया करते हैं, उनके लिये तो यही ठीक है कि :— 'मन में होय सो मन में रखिये, वचन होय तन सों न करिये।'

क्यों?

क्योंकि आज लोगों के मन इतने अपवित्र हो गये हैं, उनके मनों में इतनी हिंसा समा गयी है कि यदि वह वाणी में फूट पड़े तो जगत में कोलाहल मच जाये और यदि जीवन में आ जाये तो प्रलय होने में देर न लगे। इसीप्रकार मन इतना वासनामय और विकृत हो गया है कि यदि मन का विकार वाणी और काया में फूट पड़े तो किसी भी माँ-बहिन की इज्जत सुरक्षित न रहे। अत: यह ही ठीक है कि जो पाप मन में आ गया, उसे वहीं तक सीमित रहने दो, वाणी में

न लाओ; जो वाणी में आ गया, उसे क्रियान्वित मत करो।

जरा विचार तो करो कि गुस्से में यदि मेरे मुँह से यह निकल जाये कि 'मैं तुम्हें जान से मार डालूँगा' तो क्या यह उचित होगा कि मैं अपनी बात को कार्यरूप में परिणित करूँ? नहीं, कदापि नहीं। बल्कि आवश्यक तो यह है कि मैं उस विचार को भी तत्काल त्याग दूँ।

अत: यही उचित है कि मन-वचन-काय की एकरूपता अच्छाई में ही हो, बुराई में नहीं। हमें मन-वचन-काय में एकरूपता लाने के लिये मन को इतना पवित्र बनाना होगा कि उसमें कोई खोटा भाव कभी उत्पन्न ही न हो, अन्यथा उनकी एकरूपता रखना न तो संभव ही होगा और न हितकर ही।

तत्त्वार्थसूत्र में उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश धर्मों की चर्चा गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा और परीषहजय के साथ की गयी है - ये सब मुनिधर्म से संबंधित हैं। अत: आर्जव धर्म की चर्चा भी उन मुनिराजों के संदर्भ में ही हुई है जिनके मन-वचन-काय की दशा निम्नलिखितानुसार हो रही है :

दिन रात आत्मा का चिंतन, मृदुसंभाषण में वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रकट हो रहा अन्तर्मन॥

वे दिन-रात आत्मा का ही चिंतन-मनन-अनुभवन करते रहते हैं, अत: उनकी वाणी में भी उसकी ही चर्चा निकलती है और चर्चा करते-करते वे आत्मानुभवन में समा जाते हैं। उनके मन में अशुभभाव आते ही नहीं।

हमारी स्थिति उनसे भिन्न है। अत: हमें अपने स्तर पर विचार करना जरूरी है। मन में होने पर भी बहुत से पापों से जीवन में हम इसलिये बचे रहते हैं कि समाज उन कार्यों को बुरा मानता है, सरकार उन कार्यों को करने से रोकती है। कभी-कभी हमारा विवेक भी उन कार्यों में हमें प्रवृत्त नहीं होने देता। वाणी को भी हम उक्त कारणों से काफी संयमित रखते हैं।

यही कारण है कि जगत के कायिक जीवन में उतनी विकृति नहीं, जितनी कि जन-जन के मनों में है। 'मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये' का उपदेश मन की विकृतियों को बाहर लाने के लिये नहीं, वरन् उन्हें समाप्त कर मन को पावन बनाने के लिये है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि यह बात है तो फिर आप यह क्यों कहते हैं कि 'मन में होय सो मन में रखिये।' इसका भी कारण है और वह यह कि मन को इतना पवित्र बना लेता इतना आसान नहीं कि यहाँ हमने कहा और वहाँ आपने बना लिया। वह तो बनते ही बनेगा। अतः जब तक मन पूर्णतः पावन नहीं बन पाता, उसमें दुर्भाव उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक हमारी उक्त सलाह पर चलना मात्र उपयुक्त ही नहीं, वरन् आवश्यक है; अन्यथा आपका जीवन स्वाभाविक भी न रह सकेगा।

यदि मन को पवित्र बनाये बिना ही आपने मन की बातें वाणी में उगलना आरंभ कर दिया एवं उन्हें कार्यरूप में भी परिणत करने की कोशिश की तो हो सकता है लोग आपको मानसिक चिकित्सालय में प्रवेश दिलाने का प्रयत्न करने लगें।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति मन में आये खोटे भावों को रोकने का प्रयत्न करता ही है। वह चाहता है कि वाणी में खोटा भाव प्रकट ही न हो। पर कभी-कभी जब मन भर जाता है, वह भाव में समाता नहीं, तो वाणी में फूट पड़ता है। एक बात यह भी है कि जब कोई भाव निरंतर मन में बना रहता है तो फिर वह वाणी में फूटता ही है। मन सदा ही अपावन बना रहे तो आखिर हम उसे वाणी में आने से और जीवन में उतरने से कब तक रोकेंगे ? उसका पूरी तरह रोकना संभव भी तो नहीं है।

जो जहाँ से आते हैं, वहाँ की बातें उनके मन में छाई रहती हैं; अतः वे सहज ही वहाँ की चर्चा करते हैं। यदि कोई आदमी अभी-अभी अमेरिका से आया हो तो वह बात-बात में अमेरिका की चर्चा करेगा। भोजन करने बैठेगा तो बिना पूछे ही बतायेगा कि अमेरिका में इस तरह खाना खाते हैं, चलेगा तो कहेगा कि अमेरिका में इसप्रकार चलते हैं। कुछ बाजार से खरीदेगा तो कहेगा कि अमेरिका में तो यह चीज़ इस भाव मिलती है, आदि।

इसीप्रकार सदा आत्मा में विचरण करनेवाले मुनिराज और ज्ञानीजन सदा आत्मा की ही बात करते हैं और विषय-कषाय में विचरण करनेवाले मोहीजन विषय-कषाय की ही चर्चा करते हैं।

अतः 'मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये' का आशय जो मन में आवे उसी को बक देना और जो मुँह से निकल गया वही कर डालना नहीं; वरन् यह है कि

मनुष्य जीवन में जो करनेयोग्य है, हम उसी को वाणी में लावें और जो करनेयोग्य एवं कहनेयोग्य है, हमारे मन में बस वे ही विचार आवें, अन्य कुविचार नहीं।

यह बात तो ठीक पर मूल प्रश्न तो यह है कि – मायाचार छोड़ने के लिये, मन–वचन–काय की विरूपता, कुटिलता, वक्रता से बचने के लिये तथा आर्जव धर्म प्रकट करने के लिये अर्थात् मन की बात वाणी में लाने से फूलों की वर्षा हो और जीवन में उतारने से जगत निहाल हो जावे, ऐसा पवित्र मन बनाने के लिये क्या करें ?

उत्तम आर्जव धर्म प्रकट करने के लिये सर्वप्रथम यह जानना होगा कि वस्तुतः माया कषाय मन–वचन–काय की विरूपता, वक्रता या कुटिलता का नाम नहीं; वरन् आत्मा की विरूपता, वक्रता या कुटिलता का नाम है। मन–वचन–काय के माध्यम से तो वह प्रकट होती है, उत्पन्न तो आत्मा में ही होती है।

आत्मा का स्वभाव जैसा है, वैसा न मानकर अन्यथा मानना, अन्यथा ही परिणमन करना चाहना ही, अनंत वक्रता है। जो जिसका कर्ता–धर्मा–हर्ता नहीं है, उसे उसका कर्ता–धर्ता–हर्ता मानना–चाहना ही अनंत कुटिलता है। रागादि आस्रवभाव दुःखरूप एवं दुःखों के कारण हैं, उन्हें सुखस्वरूप एवं सुख का कारण मानना; तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना; संसार में रंचमात्र भी सुख नहीं है, फिर भी उसमें सुख मानना एवं तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना ही वस्तुतः कुटिलता है, वक्रता है। इसीप्रकार वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा न मानकर, उसके विरुद्ध मानना एवं वैसा ही परिणमन करना चाहना विरूपता है।

यह सब आत्मा की वक्रता है, कुटिलता है एवं विरूपता है। यह वक्रता–कुटिलता–विरूपता तो वस्तु का सही स्वरूप समझने से ही जावेगी।

जैसा आत्मा का स्वभाव है, उसे वैसा ही जानना, वैसा ही मानना और उसी में तन्मय होकर परिणम जाना ही वीतरागी सरलता है; उत्तम आर्जव है। मुनिराजों के जो उत्तम आर्जव धर्म होता है, वह इसीप्रकार का होता है अर्थात् वे आत्मा को वर्णादि और रागादि से भिन्न जानकर उसमें ही समा जाते हैं, वीतरागतारूप परिणम जाते हैं, यही उनका उत्तम आर्जव धर्म है; बोलने और करने में आर्जव धर्म नहीं। आर्जव धर्म की जैसी उत्कृष्ट दशा उनके ध्यान–काल में होती है, वैसी उत्कृष्ट दशा बोलते समय या कार्य करते समय नहीं होती।

बोलते और अन्य कार्य करते समय भी जो आर्जव धर्म उनके विद्यमान है, वह बोलने-करने की क्रिया के कारण नहीं, उस समय आत्मा में विद्यमान सरलता को कारण है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्यक् एवं एकरूप परिणमन ही आत्मा की एकरूपता है, वही वीतरागी सरलता है और वही वास्तविक उत्तम आर्जव धर्म है। लौकिक में छल-कपट के अभावरूप मन-वचन-काय की एकरूपतारूप सरल परिणति को व्यवहार से आर्जव धर्म कहा जाता है।

अंतर से बाहर की व्याप्ति होने से जिनके निश्चय उत्तम आर्जव प्रकट होता है, उनका व्यवहार भी नियम से सरल होता है अर्थात् उनके व्यवहार-आर्जव भी नियम से होता है। जिनके व्यवहार में भी भूमिकानुसार सरलता नहीं, उनके तो निश्चय आर्जव होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

मन-वचन-काय में भी वास्तविक एकरूपता आत्मा में उत्पन्न सरलता के परिणामस्वरूप आती है। 'मैं मन को पवित्र रखूँ, उसमें कोई बुरी बात न आने दूँ' - इसप्रकार के विकल्पों से आर्जव धर्म प्रकट नहीं होता। वस्तु के सही स्वरूप को जाने माने बिना वीतरागी सरलतारूप आर्जव धर्म प्रकट नहीं किया जा सकता। आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से ही मायाचार का अभाव होकर वीतरागी सरलता प्रकट होती है।

क्रोध और मान के समान माया भी चार प्रकार की होती है - १. अनंतानुबंधीमाया, २. अप्रत्याख्यानावरणमाया, ३. प्रत्याख्यानावरणमाया और ४. संज्वलनमाया।

अनंतानुबंधीमाया का अभाव आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि के ही होता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना अनंत प्रयत्न करने पर भी अनंतानुबंधीमाया का अभाव नहीं किया जा सकता तथा जब तक अनंतानुबंधीमाया है, तब तक नियम से चारों प्रकार की मायाकषाएँ विद्यमान हैं, क्योंकि सर्वप्रथम अनंतानुबंधीमाया का ही अभाव होता है।

शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबंधी कषायों, अणुव्रती के अप्रत्याख्यानावरण कषायों, महाव्रती के प्रत्याख्यानावरण कषायों एवं यथाख्यातचारित्रवालों के संज्वलन कषायों का अभाव होता है। उक्त भूमिकाओं के पूर्व इन कषायों का अभाव संभव नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि कषायों का अभाव करना है तो उसका उपाय कषायों की तरफ देखना नहीं और न उन वस्तुओं की ओर देखना ही है जिनके लक्ष्य से ये कषायें उत्पन्न होती हैं; वरन् अकषायस्वभावी अपनी आत्मा की ओर देखना, अपनी आत्मा को जानना, मानना और अनुभव करना है; आत्मा में ही जम जाना, रम जाना, समा जाना है।

अपने को जानने-माननेवाले एवं अपने में ही निमग्न, वीतरागी सरलता से संपन्न संतों को नमस्कार करते हुए इस पवित्र भावना के साथ कि जन-जन अकषायस्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर उत्तम आर्जव धर्म प्रकट करें, आर्जव धर्म की चर्चा से विराम लेता हूँ।

न प्रमत्त न अप्रमत्त

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्ददेव रचित महान ग्रंथराज 'समयसार' की छठवीं गाथा पर हुए पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है -

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥६॥

जो ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है। इसप्रकार इसे शुद्ध कहते हैं। और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ है, वह तो वही है, अन्य कोई नहीं।

इस गाथा से मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है। पाँचवीं गाथा में निज वैभव से शुद्ध आत्मा दिखाने की प्रतिज्ञा की थी। अत: छठवीं गाथा में अपनी भूमिका दर्शाते हुए कहते हैं कि छठवीं-सातवीं भूमिका में वर्तनेवाला मैं नहीं, मैं एक हूँ; फिर अवस्था में अप्रमत्त-प्रमत्त ऐसे दो भेद कैसे ? दो प्रकार मैं नहीं।

अपनी बात करके जगत से कहते हैं कि जो शुद्धात्मतत्त्व है, वह ज्ञायकभाव है, त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव है, परम पारिणामिकभाव स्वभाव है। यहाँ शुद्धात्मतत्त्व को परम

पारिणामिक भाव न कहकर ज्ञायकभाव कहा है, क्योंकि परम पारिणामिकभाव तो छहों द्रव्यों में पाया जाता है; परंतु शिष्य ने शुद्धात्मतत्त्व की बात पूछी है, अत: उसे ज्ञायकभाव कहकर समझाया गया है। ज्ञायकभाव ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव होने से परिपूर्ण जानने की शक्ति से भरपूर शुद्ध चैतन्य का त्रैकालिक पिण्ड है।

अहो... आचार्यदेव को वर्तती दोनों पर्यायों में ज्ञायक पर वजन होने से अंतर-वेदन में से अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं - ऐसी भाषा निकली है। ऊँची-ऊँची पर्यायों का लक्ष्य होने से पहले प्रमत्त का निषेध करने के बदले अप्रमत्त दशा का निषेध किया है।

आत्मा के गुणों की चौदह भूमिकाएँ हैं। चतुर्थ भूमिका में अपूर्व आत्मसाक्षात्कार, निर्विकल्प अनुभव होता है, यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। फिर स्थिरता में आंशिक वृद्धि - यह पाँचवीं भूमिका है। अंतर में विशेष स्थिर होकर कषाय की तीन चौकड़ी के अभावपूर्वक प्रगट होनेवाली निर्विकल्प ध्यानदशा अप्रमत्त नामक सातवीं भूमिका है। और पुन: सविकल्प दशा आना छठवीं भूमिका है। मुनिराज बारंबार इन दोनों दशाओं में झूलते रहते हैं। पहली से छठवीं भूमिका तक प्रमत्तदशा और सातवीं भूमिका से चौदहवीं भूमिका तक होनेवाली अप्रमत्तदशाएँ भी भेदरूप होने से अशुद्ध निश्चयनय का विषय हैं।

त्रैकालिक ज्ञायकभाव अनादि-अनंत, नित्यानंद प्रभु, पवित्र, एकरूप, सामान्य, परम पारिणामिकभावरूप, ध्रुवभाव, सदृशभावरूप है। उसमें मन-वचन-काय और शुभाशुभभावों को करने का कोई गुण नहीं है, तथा ज्ञान-दर्शनादि के अपूर्ण परिणमन की शक्ति भी नहीं है, तथा पर्यायों का अभाव है। पर से लक्ष्य हटाकर ऐसे ज्ञायकभाव की सेवा-उपासना करनेवाले को पर्याय में शुद्ध परिणमन होता है। उस शुद्ध परिणमन में ज्ञायकभाव शुद्ध है, ऐसा जानने में आता है। मात्र 'शुद्ध है-शुद्ध है' ऐसा विचार करना तो विकल्प है, उससे शुद्धात्मा ज्ञात नहीं होता। परंतु जो अपने ज्ञायकस्वभावी नित्य शुद्ध आत्मा को परद्रव्य और परभावों से भिन्न होकर उपासना करता है, उसे 'आत्मा शुद्ध है' ऐसा यथार्थ ज्ञान प्रगट होता है और भूमिकानुसार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं।

ज्ञायकस्वभावी जीवद्रव्य को किसी ईश्वर या कर्म ने नहीं बनाया, किसी माता ने जन्म नहीं दिया, अपितु वह ध्रुवस्वभावी होने से स्वत: सिद्ध है, स्वयं अपने से ही विद्यमान है।

अनादि से है... है.. है रूप सत् है। कभी नष्ट नहीं होनेवाला अविनाशी होने से अनंत है। क्षेत्र से अनंत नहीं, परंतु अपनी पूर्ण शक्ति से अनंत और स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अखंड है। औपशमिक आदि चार भाव, केवलज्ञानपर्याय भी नाशवान है। सम्यग्दर्शन भी पर्याय है, परंतु उसका विषय त्रैकालिक ज्ञानस्वभावी अनादि-अनंत चैतन्य प्रकाशपुंज है। इसप्रकार ज्ञायकस्वभावी आत्मा के विषय में भूत और भविष्यकाल की बात कहकर अब ज्ञायकस्वभावी आत्मा का वर्तमान स्वरूप बताते हैं।

नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं; अपितु प्रतिक्षण साक्षात् चैतन्यमूर्ति, स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है। वर्तमान पर्याय क्षणिक होने से नाशवान है और त्रैकालिक द्रव्य अविनाशी होने से स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है। ज्ञायकस्वभावी आत्मा अपने सम्यक् मति-श्रुतज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसी पुण्य-पापरूप अंधकार का नाश करनेवाली प्रकाशमान ज्योति है। परोक्ष और आवरण से दबी रहनेवाली नहीं है।

ज्ञायकस्वभावी आत्मा एकभावरूप है; और औपशमिकादि पर्यायें अनेकभावरूप हैं। एकभावरूप होने से ज्ञायकभाव में पर्यायों का अनेकभावरूपत्व नहीं है। जैसे - तास के पत्तों में हुकुम का इक्का सबसे ऊँचा होता है; उसीप्रकार ज्ञायकभाव अन्य सभी भावों से ऊँचा होने से उसका आश्रय करने से सर्व विकारी भावों को जीता जा सकता है।

द्रव्यसामान्य की बात कहकर अब पर्याय की बात कहते हैं। त्रैकालिक ज्ञानस्वभावी आत्मा तो ध्रुवरूप है, एकभावरूप है; परंतु संसार अवस्था में अनादि बंध पर्याय की अपेक्षा, कर्म-पुद्गलों के साथ क्षीर-नीर की भाँति एकरूप दिखायी देता है। जिसप्रकार क्षीर और नीर भिन्न-भिन्न पदार्थ होने पर भी एकरूप दिखायी देते हैं, परंतु उसमें क्षीर क्षीररूप और नीर नीररूप है। एक क्षेत्र में रहते हुए भी परस्पर एक दूसरे रूप नहीं होते। उसीप्रकार यद्यपि शुद्ध चैतन्यस्वभाव के रस का सत्व भगवान आत्मा और कर्म दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, तथापि आत्मा की वर्तमान पर्याय में अनादि से द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से व एक क्षेत्र में रहने से एकरूप दिखायी देते हैं। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा तो ज्ञायकभाव ज्यों का त्यों है। खदान में मिट्टी के साथ स्वर्ण का कितना भी संबंध हुआ हो तथापि स्वर्ण तो ज्यों का त्यों है। उसीप्रकार चैतन्य की पर्याय में कर्म का संबंध होने पर भी चैतन्य तो ज्यों का

त्यों है, वह कभी कर्मरूप नहीं हुआ। कर्म तो अचेतनरूप है और ज्ञायकस्वभावी आत्मा चेतनरूप है। चेतन, अचेतनरूप और अचेतन, चेतनरूप कैसे हो सकता है ?

शुद्ध चैतन्यतत्त्व का आश्रय न करके परपदार्थों का आश्रय करने से प्रगट होनेवाला मिथ्यात्व व रागादि कषायों का समूह दुरंत है। उसका अंत लाने के लिये महान पुरुषार्थ की आवश्यकता है। शुभाशुभभावरूपी कषाय अनेक प्रकार की होने से विचित्र है, उन्हें अपना मानना ही उनके वश होना है। कर्मोदय के कारण शुभाशुभभाव के वश नहीं हुआ, अपितु अपनी विपरीत मान्यता के कारण उनके वश हुआ है। शुभाशुभभाव पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले हैं। उनके निमित्त से घातिकर्मों में सब पापरूप कर्मों का ही बंध होता है, क्योंकि घातिकर्म सब पापरूप ही हैं। अघातिकर्म में शुभभाव से पुण्यकर्म का और अशुभभाव से पापकर्म का बंध होता है। शुभभाव भी पुण्य कर्म को उत्पन्न करता है, आत्मधर्म को नहीं। ऐसे शुभाशुभभावों के स्वभावरूप परिणमित नहीं होने से ज्ञायकस्वभावी आत्मा अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है। शुभाशुभभाव में ज्ञायकपना अर्थात् ज्ञान नहीं है। वह तो ज्ञान के अभावस्वरूप भाव है। उसमें चेतन का भाव न होने से वह तो अचेतन है, जड़रूप है, अतः स्वयं को भी नहीं जानता और पर को भी नहीं जानता; परंतु भेदज्ञान द्वारा ज्ञानी उसे अचेतन जानते हैं।

सम्यग्दृष्टि के ध्यान का ध्येय त्रैकालिक ज्ञानस्वभावी ध्रुव आत्मा पुद्गलादि जड़द्रव्योंरूप तो परिणमित नहीं होता, अपितु शुभाशुभभावरूप भी परिणमित नहीं होता; क्योंकि उनमें चैतन्य रस नहीं है, वे तो राग रस से भरपूर हैं। शुभराग करते-करते धर्म होगा, ऐसा माननेवाले जड़ से धर्म होना मानते हैं।

श्री नियमसार के शुद्धभाव अधिकार में कहा है कि ज्ञायकस्वभावी आत्मा के त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव में औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव भी नहीं है; ये भाव पर्याय में हैं, द्रव्य में नहीं। ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मा इन चारों भावों से अगोचर है अर्थात् त्रैकालिक ज्ञानस्वभावी आत्मा इन चारों भावों के आश्रय से जानने में नहीं आता। शुद्ध चैतन्य आत्मद्रव्य के सम्मुख होने से वह ज्ञात होता है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से ज्ञायकस्वभावी आत्मा शुभाशुभभावरूप परिणमित न होने से प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है।

यह, धर्म के प्रारंभ की सर्वप्रथम बात है, ऊँची या तेरहवीं भूमिका की बात नहीं है। शुद्ध ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लेने से ही मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है, यह सत्य समझे बिना भव-भ्रमण नहीं टलता। अत: प्रथम सत-समागम द्वारा यथार्थ समझ कर सत्य को स्वीकार तो कर कि 'मैं विकाररहित निर्मल ज्ञानस्वभावी हूँ।' जो इसे स्वीकार करेगा, उसे पूर्ण ज्ञानानंदस्वभाव की निर्मलता प्रगट होगी। सूक्ष्म और यथार्थ विषय को समझने के लिये अत्यंत तीव्र और सत्य पुरुषार्थ चाहिये।

समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से अर्थात् जड़कर्मों के उदय, उपशमादि भावों से भिन्न ज्ञायकस्वभावी शुद्धात्मा की उपासना (सेवा) करने से पर्याय में शुद्ध परिणमन होता है। उस शुद्ध परिणमन से शक्तिरूप शुद्ध आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा शुद्ध है... ध्रुव है, ऐसा कहने से आत्मा शुद्ध नहीं हो जाता; अपितु पर से भिन्न ध्रुव शुद्धात्मा के सम्मुख होकर शुद्ध परिणमन करने से शुद्ध आत्मा यथार्थरूप से ज्ञात होता है।

जब आत्मा को ज्ञायक कहने में ज्ञातृत्व आता है और परपदार्थों को जानना ज्ञान का स्वभाव है, तो क्या पर के अवलंबन से पर का ज्ञान होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि दाह्य जो सोना उसके आकार होने से अग्नि को दाहक कहते हैं - परंतु अग्नि स्वर्णरूप नहीं होती, सोना भिन्न रहता है और अग्नि भिन्न रहती है क्योंकि वह निकल जाती है। उसीप्रकार ज्ञायक आत्मा में परवस्तु का आकार ज्ञात होता है, वह तो ज्ञान की ही निर्मलता दिखती है। जैसे दर्पण की स्वच्छता में परवस्तु जैसी है, वैसी झलकती है, परंतु उसमें परवस्तु का आश्रय नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान में शब्द, रस, रूप, गन्ध इत्यादि ज्ञात होते हैं। उन्हें जानने के काल में भी ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है; पर को जानता ही नहीं, क्योंकि ज्ञान ज्ञेयों में प्रविष्ट नहीं होता। ज्ञान तो सदैव ज्ञायकरूप रहता है। परपदार्थ सहज ज्ञात हो, ऐसा पर-प्रकाशक ज्ञान का स्वभाव है। ज्ञान, ज्ञान में रहकर अनेक ज्ञेयों का ज्ञान करता है, यह ज्ञान की स्वच्छता का वैभव है।

शुद्ध चैतन्य ज्ञायकस्वभावी आत्मा पर दृष्टि जाने से शुद्धतारूप परिणमन होता है। उसके साथ स्व-पर के ज्ञान का भी परिणमन होता है, जो ज्ञेय के कारण नहीं हुआ; परंतु ज्ञानपर्याय की योग्यता से हुआ है। उस पर्याय का कर्ता आत्मा स्वयं है और वह पर्याय स्वयं ही कर्म है। ज्ञेय के कारण ज्ञान में ज्ञेय ज्ञात नहीं होता। त्रैकालिक शुद्ध आत्मा से सम्मुख होने से

पर्याय में आत्मा ज्ञायकरूप से ज्ञात होता है। ज्ञायक तो ज्ञायकरूप ही है; शरीर, राग, पर्याय या अन्यरूप नहीं है।

जैसे – स्वर्ण की अशुद्धता अग्नि में नहीं आती; उसीप्रकार परज्ञेयों को जानता हुआ ज्ञान परज्ञेयों में नहीं आता। जैसा निमित्त (ज्ञेय) उपस्थित होता है, वैसा ही ज्ञान होता है, अतः पर के अवलंबन से ज्ञान होता हुआ प्रतिभासित होता है, परंतु उस समय भी ज्ञान तो ज्ञान से ही हुआ है। निमित्त से ज्ञान होता हो तो सबको एक-सा ज्ञान होना चाहिये, परंतु ऐसा नहीं होता; अतः ज्ञान परावलंबी नहीं है।

ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञान उससे भिन्न अखंडरूप से रहता है और ज्ञेय भी ज्ञान से भिन्न अखंडरूप से रहता है। ज्ञान, खट्टे ज्ञेय को खट्टा जानते हुए स्वयं खट्टा नहीं हो जाता, लंबे वृक्ष को जानते हुए लंबा नहीं हो जाता, राग को जानते हुए रागरूप नहीं हो जाता अर्थात् ज्ञेयाकार होते हुए भी ज्ञेयकृत अशुद्धता ज्ञान में नहीं होती। ज्ञान, ज्ञेय के आकाररूप होता है – इसका आशय यह है कि जैसा ज्ञेय हो, ज्ञान उसे वैसा ही जान लेता है। ज्ञान जाननेरूप ही प्रवर्तित होता है, ज्ञेयरूप से नहीं।

आत्मा का कर्ता-कर्मपना दीपक के प्रकाश के समान अनन्य है। जैसे – दीपक घट-पटादि वस्तुओं को प्रकाशित करने की अवस्था में दीपक है और अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है; उसीप्रकार ज्ञायक का स्वरूप जानना चाहिये।

यहाँ यह जानना चाहिये कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है। अतः अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना चाहिये। अशुद्ध अवस्था है ही नहीं – ऐसा नहीं मानना। अशुद्धता अज्ञानभाव से है, द्रव्यस्वभाव में नहीं – ऐसा मानना चाहिये। आत्मा स्वभावअपेक्षा निर्मल है, परंतु वर्तमान अवस्था में साक्षात् निर्मल नहीं है। जो अवस्था में भी निर्मल हो तो पुरुषार्थ करके राग टालने की क्या आवश्यकता? यदि निर्मल अवस्था प्रगट हो तो प्रत्यक्ष आनंद हो; परंतु प्रत्यक्ष आनंद नहीं है, अतः अवस्था में अशुद्धता है, उसे दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। अज्ञानदशा में भी ज्ञानगुण का विकास तो होता ही है, उसे स्वसन्मुख करने से सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझने की तैयारी के लिये विशेष पात्रता होती है। मुमुक्षु

को तृष्णा की मंदता, दान, करुणा, सत्य, ब्रह्मचर्य का रंग, धर्म का प्रेम, प्रभावना, भक्ति आदि तो होना ही चाहिये; परंतु यह अपूर्व नहीं। अपने स्वभाव की महिमा आये बिना तृष्णा-ममता वास्तव में मंद नहीं पड़ती। अतः कहा है कि समझने के पहले आसक्ति अल्प घटती है, परंतु समझने पर तो सहज ही अनंत ममता और तृष्णा घट जाती है। अतः समझ के ऊपर मूल वजन है।

इसप्रकार अवलंबन करनेयोग्य शुद्धात्मा के स्वरूप का वर्णन किया।

नियमसार प्रवचन

वंदे मुनिवरम्

परमपूज्य सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' नामक ग्रंथराज पर मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने 'तात्पर्यवृत्ति' नामक अत्यंत गंभीर संस्कृत टीका लिखी है।

उक्त संस्कृत टीका के मंगलाचरण पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। [गतांक से आगे]

मंगलाचरण में प्रथम जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके जिनवाणी को नमस्कार किया। अब तीसरे श्लोक में दिगम्बर गुरु को नमस्कार करते हैं :-

सिद्धान्तोद्‌घश्रीधवं सिद्धसेनं, तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम्।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे, तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम्॥३॥

उत्तम सिद्धांतरूपी श्री के पति सिद्धसेन मुनीन्द्र की, तर्ककमल के सूर्य भट्टअकलंक मुनीन्द्र की, शब्दसिंधु के चंद्र पूज्यपाद मुनीन्द्र की और तद्‌विद्या से (सिद्धान्तादि तीनों के ज्ञान से) समृद्ध वीरनन्दि मुनीन्द्र की मैं वंदना करता हूँ।

उत्तम सिद्धांतरूपी श्री के पति सिद्धसेन मुनीन्द्र महानिर्ग्रंथ दिगंबर संत थे। सिद्धसेन दिवाकर से ये भिन्न हैं। ये सिद्धसेन मुनीन्द्र भावलिंगी संत महान् स्वरूपलक्ष्मी के स्वामी थे। तथा तर्करूपी कमल को विकसित करने में सूर्य के समान अकलंक मुनीन्द्र भी भावलिंगी संत थे, आत्मा के आनंद में निरंतर झूलते थे। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थ राजवार्तिक टीका इत्यादि न्यायग्रंथों की रचना की है।

शब्दसिंधु को उछालनेवाले चंद्रसमान पूज्यपाद मुनीन्द्र के महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका रची है। सिद्धांतादि तीनों ज्ञान से समृद्ध ऐसे श्री वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती थे।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के इस ग्रंथ की टीका के प्रारंभ में टीकाकार ने प्रथम महान् दिगम्बर संतों का स्मरण करके उनके चरणकमलों में नमस्कार किया है।

अब, यह टीका मैं किसलिए करता हूँ यह बताते हैं :-

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्य्यसंज्ञिकाम्॥४॥

भव्यों के मोक्ष के लिये तथा निज आत्मा की शुद्धि के हेतु नियमसार ग्रंथराज की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका मैं कहूँगा।

'पुण्य बँधे और स्वर्ग मिले' इस लोभ से यह टीका नहीं की गयी है किंतु भव्यजीव आत्मा को समझकर मोक्ष प्राप्त करें, इसलिये मैं यह टीका रचता हूँ। पंचमकाल में मोक्ष प्राप्ति नहीं होती, इस बात को यहाँ याद नहीं किया है, क्योंकि जो जीव भव्य हैं और जो आत्मा को समझकर मोक्ष के इच्छुक हैं, वे जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक होकर कभी न कभी मुक्ति प्राप्त करनेवाले ही हैं।

मंगलाचरण में जैसे देव-शास्त्र-गुरु को नमस्कार किया है, उनके अतिरिक्त अन्य कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता जिसकी छूट गयी है - ऐसा जीव ही यह बात सुनने को खड़ा हुआ है। ऐसे भव्य जीव के मोक्ष के लिये मैं यह टीका कहूँगा। जो जीव योग्य हैं और मोक्ष के लिये जिनकी तैयारी हो गयी है, ऐसे श्रोताओं के लिये मैं यह टीका कहता हूँ। अर्थात्

श्रोता भी ऐसा होना चाहिये जिसे मोक्ष के अतिरिक्त स्वर्गादिक की वांछा न हो।

निमित्तरूप से भव्य जीवों के मोक्ष के लिये मैं टीका करता हूँ और उपादानरूप से मैं अपने आत्मा की शुद्धता के लिये यह टीका करता हूँ। इस टीका द्वारा शुद्ध चैतन्य परम पारिणामिकस्वभाव का घोलन करने पर विकल्प टूट जायेगा और शुद्धता बढ़ जायेगी। श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समयसार के मंगलाचरण में भी ऐसा ही कहा है।

यह टीका भव्य जीवों के मोक्ष के लिये की गई है अर्थात् उसमें से कोई यदि राग का या संसार का आशय निकाले तो उसने टीका को समझा ही नहीं। मेरे स्वयं के अंतर में द्रव्य की तरफ का झुकाव है, टीका के शब्द या विकल्प के ऊपर नहीं। मेरे अंदर तो चैतन्यस्वभाव का घोलन चल रहा है। उसके बल से मेरा विकल्प टूट जायेगा और शुद्धता बढ़ जायेगी।

जीवों को मोक्ष हो और मेरे आत्मा की शुद्धि हो – यही इस टीका का फल है। टीकाकार मुनिराज ने 'मोक्षमार्ग के लिये' ऐसा न कहकर 'मोक्ष के लिये' ऐसा कहा है। जहाँ स्वभाव की दृष्टि की, वहाँ दृष्टि में तो मोक्ष हो ही गया और वह जीव अल्पकाल में ही नियम से मोक्ष प्राप्त करेगा। इसलिये कहा है कि मैं भव्य जीवों की मुक्ति के लिये और अपने आत्मा की शुद्धता के लिये इस नियमसार ग्रंथ की टीका कहूँगा।

इसप्रकार टीका करने की प्रतिज्ञा करके अब अपनी निर्मानता प्रगट करते हुए विनयपूर्वक कहते हैं:–

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम्।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः॥५॥

गुण के धारण करनेवाले गणधरों से रचित और श्रुतधरों की परंपरा से अच्छी तरह व्यक्त किये गये इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करने में हम मंदबुद्धि तो कौन?

तीर्थंकर भगवान के श्रीमुख से निकली हुई ध्वनि को गणधरदेव ने धारण किया। उन गुणों के धारण करनेवाले गणधरदेव के द्वारा रचित और तत्पश्चात् श्रुतज्ञान के धारक सन्तों की परंपरा से भली भाँति व्यक्त किये गये इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करने में हम मन्दबुद्धि भला कौन होते हैं? संतों की परंपरा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव वगैरह आ जाते हैं।

बीच में संतों की परंपरा में विच्छेद होने पर जो विपरीतता हुई, उसकी बात यहाँ नहीं है। इसमें तो ठेठ गणधर की परंपरा से जो तत्त्व आया और भगवान कुन्दकुन्ददेव ने जो व्यक्त किया उसका ही कथन है।

अहो! स्वयं महासमर्थ संत होने पर भी उनमें कितनी निर्मानता है। यद्यपि उन्होंने टीका में ऐसा अलौकिक रहस्य प्रगट किया है, दूसरे किसी भी ग्रंथ में ऐसा खुला रहस्य नहीं है – अंतर में चैतन्य को स्पर्श करके शुद्धकारणपर्याय, स्वरूपप्रत्यक्ष उपयोग इत्यादि का अपूर्व अलौकिक रहस्य प्रगट किया है; तो भी कहते हैं कि अरे! गणधरादि महासंतों के समक्ष हम जैसे मंदबुद्धि किस गणना में हैं?

यद्यपि पाँचवें श्लोक में टीकाकार ने अपनी असमर्थता व्यक्त की थी, तथापि छठवें श्लोक में टीका लिखने की रुचि व्यक्त कर रहे हैं :-

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना॥६॥

इस समय हमारा मन परमागम के सार की पुष्ट रुचि से पुनः पुनः अत्यंत प्रेरित हो रहा है। उस रुचि से प्रेरित होने के कारण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की यह टीका रची जा रही है।

राग को प्रलम्बित करने की भावना नहीं है, इसलिये कहा कि 'इस समय' हमारे मन में इस शास्त्र की टीका का विकल्प उत्पन्न हुआ है। पहले विकल्प नहीं था, बाद में भी नहीं रहेगा, किंतु 'इस समय' अर्थात् वर्तमानमात्र जितना ही विकल्प उठा है कि ऐसे परमागम की टीका हो जाये तो ठीक। परमागम का जो सार है, उसकी पुष्ट रुचि से हमारा मन टीका करने के लिये इस समय प्रेरित हुआ है। पुनः पुनः विकल्प का लक्ष्य इस परमागम के सार को टीका में अत्यंत स्पष्ट रूप से उद्घाटित करने की ओर जाता है।

इस परमागम में अलौकिक रहस्य भरा है। उसकी पुष्ट रुचि से 'इस समय' पुनः पुनः उसकी टीका करने के लिये हमारा हृदय प्रेरित हो रहा है। क्षण में विकल्प तोड़कर आनंद का अनुभव करते हैं और क्षण में ही फिर इस टीका का विकल्प उत्पन्न हो जाता है अर्थात् इस समय इस टीका की तरफ मन का विकल्प जा रहा है, इसलिये यह टीका रची जा रही है।

देखो! 'हमारा मन प्रेरित हो रहा है' ऐसा कहा है; विकल्प उठा है, उसमें मन निमित्त है। वह विकल्प किसी पर के कारण नहीं उठा, किंतु अपनी उतनी निर्बलता के कारण ही वह विकल्प उठा है; फिर भी वह विकल्प वर्तमानमात्र जितना ही है, उस विकल्प की भावना नहीं है। इसलिये कहा कि 'इस समय' प्रेरित हो रहा है। यह विकल्प स्थिर बना रहे, ऐसी भावना नहीं है, अपितु भावना तो आत्मा की शुद्धि की ही है।

यह तो महासंत, भावलिंगी मुनि, आत्मा की रमणता में झूलनेवाले थे। उनके एक-एक शब्द के पीछे गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। आजकल ऐसी सत्य बात सुनना भी कठिन है, और समझना वह तो अपूर्व है। अरे! ऐसी सत्य बात का श्रवण भी किसी महाभाग्यशाली को ही होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि टीका के शब्दों के कर्ता हम नहीं हैं, विकल्प उठा है, उसके भी हम निश्चय से कर्ता नहीं है; हम तो ज्ञाता हैं। विकल्प उठा है, उसके भी ज्ञाता ही हैं। ऐसे भानपूर्वक टीका का विकल्प उठा है और उसकी रचना हुई है।

अब, इस नियमसार में क्या कथन आयेगा वह कहते हैं :-

पंचास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थकाः।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्व्वं प्रत्याख्यानादिसत्क्रियाः ॥७॥

सूत्रकार ने प्रथम पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नव पदार्थ तथा प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया का कथन किया है अर्थात् भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस शास्त्र में प्रथम पाँच अस्तिकाय आदि और तत्पश्चात् प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया का कथन किया है।

सूत्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान हैं। वे भगवान दो हजार वर्ष पहले हो गये हैं और टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज लगभग तेरहवीं शताब्दी में हुए हैं।

निर्विकल्प आत्मा की क्रिया ही सत्क्रिया है और बीच में शुभराग की वृत्ति उठे, वह सत्क्रिया नहीं है, अपितु विकारक्रिया है। चैतन्यस्वभाव ध्रुव परमपारिणामिक तत्त्व है। उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की क्रिया होती है, उसका नाम सत्क्रिया है। प्रत्याख्यान किसे कहें और भक्ति किसे कहें? चैतन्य में लीनता हो, वही प्रत्याख्यान और भक्ति

आदि सत्क्रिया है। जो राग होता है, वह असत् क्रिया है और शरीरादि की क्रियायें तो जड़ की क्रियायें हैं।

सत्क्रिया कहो या धर्म की क्रिया कहो। बीच में राग का वर्णन आये, वह तो मात्र ज्ञान कराने के लिये ही आयेगा, किंतु उस राग की क्रिया को हम सत्क्रिया नहीं कहते। वीतराग के पंथ की क्रिया ही सत्क्रिया है। जितना राग उठे, वह वीतराग के पंथ की सत्क्रिया नहीं है, किंतु असत्क्रिया है।

लोग कुछ क्रिया करना चाहते हैं तो यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हम इस शास्त्र में प्रत्याख्यान, भक्ति आदि सत्क्रियाओं का वर्णन करेंगे; ऐसी सत्क्रिया जीव ने कभी नहीं की है।

श्रीमद् रायचंद्र कहते हैं :-

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो।
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो॥
मनपौन निरोध स्वबोध कियो, हठ जोग प्रयोग सुतार भयो।
जप भेद जपे तप त्यौंही तपे, उरसें ही उदासी लही सब पै॥
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेंद लिये।
बहु साधन बार अनंत कियो, तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो॥
अब क्यों न विचारत है मन से, कछु और रहा उन साधन से?
बिन सद्गुरु कोई न भेद लहै, मुख आगल हैं वह बात कहै॥

आत्मभान बिना यह सब कुछ किया किंतु उसको भगवान सत्क्रिया नहीं कहते। अंतर में चैतन्यस्वभाव पड़ा है। उसके आश्रय से होनेवाली क्रिया ही सत्क्रिया है। शास्त्रज्ञान किया और त्यागी होकर वन में वास किया, उससे पुण्य बाँधकर स्वर्ग में गया और स्वर्ग में से निकलकर पुनः चार गतियों में पड़ा, इसलिये वह सत्क्रिया नहीं है। जिनशासन में कथित सत्क्रिया करे तो मोक्ष हुए बिना रहे नहीं। छहढाला में भी कहा है:-

'मुनिव्रत धारि अनंतबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।'

सभी संतों ने यही बात कही है।

यहाँ टीकाकार मुनिराज इस नियमसार परमागम का उपोद्घात करते हुए कहते हैं कि सूत्रकार भगवान ने इस शास्त्र में सत्क्रियाओं का वर्णन किया है। सत्क्रिया किसको कहें? जिससे मोक्ष प्राप्त हो, उसे सत्क्रिया कहते हैं और वह कैसी होती है, उसका इस शास्त्र में वर्णन है। जो सत्क्रिया अनंत काल में जीव ने कभी की नहीं, वह सत्क्रिया आचार्यदेव इस शास्त्र में बतायेंगे।

कुन्दकुन्द भगवान ने यह शास्त्र बनाया है। वे महाविदेह में सीमंधर परमात्मा के पास गये थे और वहाँ आठ दिन रहकर इस भरतक्षेत्र में वापस पधारे थे। तब उन्होंने इस शास्त्र की रचना की है। इसमें सत्क्रियाओं का वर्णन किया गया है। बाहर की सत्क्रियायें नहीं, किंतु अंतर में ज्ञानानंदस्वरूप में रमणता करने पर राग टूट जाये, उसका नाम प्रत्याख्यान की सत्क्रिया है।

प्रथम चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना सत्क्रिया है। उसके बाद निश्चय प्रत्याख्यान-भक्ति आदि की सत्क्रिया कैसी होती है, उसका इसमें वर्णन है। जिसको स्वभाव का भान नहीं, वह तो नाम से जैन है। चैतन्य का जैसा स्वभाव है, वैसा पहचान कर मोह को जीते, वही सच्चा जैन है।

आचार्यदेव ने पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नव पदार्थों का वर्णन किया है। उनको जो न जाने, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जीव को जीव, अजीव को अजीव, पुण्य को पुण्य, पाप को पाप और संवर को संवर माने; जो इसप्रकार नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्न न माने और अजीव की क्रिया जीव करता है, ऐसा माने; पुण्य से धर्म होता है, ऐसा माने, तो उसने नव तत्त्वों को वास्तव में माना नहीं और उसके प्रत्याख्यानादि धर्मक्रिया होती नहीं।

प्रथम नव तत्त्व को पहचानकर चैतन्यस्वभाव को पहचाने। पश्चात् अंदर में एकाग्रता करने पर राग टल जाये, उसका नाम प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया है। शरीर की क्रिया तो जड़ की क्रिया है, पुण्य की क्रिया, वह असत्क्रिया है। चिदानंदस्वभावी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप क्रिया, वह सत्क्रिया है। उसका वर्णन इस शास्त्र में आयेगा। इस वीतरागी क्रिया के अतिरिक्त अन्य कोई क्रिया मोक्ष का कारण नहीं है।

अति विस्तार से बस होओ, बस होओ। साक्षात् यह विवरण जयवंत वर्तो। [क्रमशः]

धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम

'छहढाला' दिगम्बर जैन समाज का सर्वाधिक पढ़ा जानेवाला अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथरत्न है। वात्सल्य अंग का स्वरूप बतानेवाली उसकी पंक्ति 'धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम' पर हुए पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों का सार आत्मधर्म के जिज्ञासु पाठकों के लिये प्रस्तुत है।

यह छहढाला अमूल्य ग्रंथरत्न है। इसमें पंडित दौलतरामजी ने जिनागम का सार भर दिया है। इसकी यह तीसरी ढाल चलती है।

परद्रव्यों से भिन्न अपने शुद्ध एकत्वस्वरूप की रुचि-प्रतीत-श्रद्धा, सो सम्यग्दर्शन है, उसकी अद्भुत महिमा है। ऐसे सम्यग्दर्शन के साथ में शंकादि आठ दोषों के अभावरूप नि:शंकितादि आठ गुण होते हैं, जिन्हें आठ अंग भी कहते हैं। उन्हीं का वर्णन चल रहा है। स्थितिकरण अंग का वर्णन हुआ। अब वात्सल्य अंग का वर्णन चलता है।

जिसप्रकार गाय को अपने बछड़े पर किसी प्रकार की आशा के बिना निरपेक्ष प्रेम होता है; उसीप्रकार धर्मी को अन्य साधर्मीजनों के प्रति सहज ही प्रेम होता है। उन्हें अपना जानकर उन पर वात्सल्य आता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रधारक जीवों के समूह को धर्मी जीव अपना हितैषी, स्वजन मानते हैं। उनकी प्राप्ति होने पर मानों कोई महान निधान मिल गया है। उनका आदर, उनके गुणों की स्तुति, आहारपान, सेवा आदि में आनंद मानना, वह वात्सल्य अंग है।

धर्मी जीव किसी को दिखाने के लिये कपट से प्रेम नहीं करते या किसी बदले की आशा नहीं रखते; परंतु धर्म की प्रीति के कारण धर्मी को ऐसा प्रेम भाव सहज आ जाता है। जिस वीतराग धर्म की मैं साधना कर रहा हूँ, उसी धर्म की ये साधना कर रहे हैं; अत: ये मेरे साधर्मी हैं। मेरे साधर्मी को कोई दु:ख न हो, उन्हें धर्म में कोई विघ्न न हो - इसप्रकार साधर्मी के प्रति वात्सल्य होता है।

यद्यपि राग तो है परंतु उस राग की दशा संसार की ओर से पलटकर धर्म सन्मुख हो

गयी है। संसार में स्त्री-पुरुष-धन आदि का राग तो पापबंध का कारण है और साधर्मी के प्रति धर्मानुराग में धर्म की भावना का पोषण होता है।

अंतरंग में तो धर्मी को अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप आत्मा में परम प्रीति है, उसे ही वह अपना स्वरूप जानता है; वह परमार्थ वात्सल्य है। और व्यवहार में रत्नत्रय के धारक अन्य साधर्मी जीवों को अपना समझकर उन पर परम प्रीतिरूप वात्सल्य आता है। धर्मात्मा पर आये हुए दु:ख को धर्मी नहीं देख सकते। इसप्रकार से उनका दु:ख मिटाने का उपाय करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव को किसी भी जीव के प्रति बैर-भाव नहीं होता, तो फिर धर्मी के प्रति ईर्षा कैसे हो? दूसरे जीव अपनी अपेक्षा आगे बढ़ जायें, वहाँ उसे द्वेष नहीं होता, परंतु अनुमोदना और प्रेम आता है। साधर्मी को एक-दूसरे के प्रति प्रेम होता है - कैसा प्रेम? माँ को अपने पुत्र पर प्रेम हो, वैसा निर्दोष प्रेम; गाय को अपने बछड़े पर प्रेम होता है, वैसा निस्पृह प्रेम; धर्मी को साधर्मी के प्रति होता है। अभी इनके दु:ख में मैं सहायता करूँगा तो भविष्य में किसी समय यह मुझे काम में आयेंगे, ऐसे बदले की भावना नहीं रखते; परंतु धर्म के सहज प्रेमवश निस्पृह भाव से धर्मी के प्रति वात्सल्य रखते हैं। जिसप्रकार कि माता अपने पुत्र का दु:ख देख नहीं सकती तथा हिरनी अपने बच्चे के प्रेमवश उसकी रक्षा हेतु सिंह के सन्मुख चली जाती है।

सच्ची माता के प्रेम की एक बात आती है कि एक बालक के लिये दो स्त्रियों में झगड़ा हुआ। न्यायाधीश ने (सत्य की परीक्षा हेतु) बालक के दो टुकड़े करके दोनों को एक-एक देने की आज्ञा दी। यह सुनते ही सच्ची माता तो जोर से रोने लगी। पुत्र की रक्षा हेतु उसने कहा - इसे ही बालक दे दीजिए! मुझे नहीं चाहिये। उदाहरण में से केवल इतना लेना है कि सच्ची माता पुत्र का दु:ख नहीं देख सकती। उसका वास्तविक प्रेम उमड़ पड़ता है।

प्रद्युम्नकुमार १६ वर्ष की अवस्था में जब घर पधारे, तब रुक्मिणी माता के हृदय में वात्सल्य की धारा उमड़ पड़ी थी। उसीप्रकार साधर्मी का प्रेम वास्तविक प्रसंग पर छिपा नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टि के प्रति अंतर में प्रेम होता है; उन्हें देखते ही, उनकी बात सुनते ही प्रेम आता है। जिसे धर्म के प्रति प्रेम होता है, उसे धर्मी के प्रति प्रेम होता ही है; क्योंकि धर्म और धर्मी कहीं भिन्न नहीं हैं। [न धर्मो धार्मिकै: बिना।]

यह तो सम्यग्दर्शन सहित आठ अंग की बात है; परंतु इसके पूर्व भी धर्म के जिासु को धर्म के प्रति वात्सल्य, धर्मात्मा का बहुमान आदि भाव होते हैं।

मोक्ष का सच्चा कारण तो अंतर में परद्रव्य से भिन्न अपने आत्मा की रुचि और ज्ञान करना है। सम्यग्दर्शन के बिना शुभभाव से मोक्षमार्ग नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बाद भी जो राग है, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव ही है, पर जहाँ राग की भूमिका है, वहाँ ऐसे वात्सल्यादि भाव अवश्य आते हैं।

गाँव-गाँव में वीतराग-विज्ञान पाठशालायें खोलिये।

सर्वज्ञ का स्वीकार

जिसने वीतरागदेव की सर्वज्ञता को माना और उनकी जैसी सामर्थ्य है, वैसी ही सामर्थ्य अपनी एकसमय की पर्याय में भी है – इसप्रकार जिसने स्वीकार किया है, वह राग-द्वेष को अपना नहीं मानता, क्योंकि सर्वज्ञ के राग-द्वेष नहीं होता। राग की संपूर्ण हीनता होने पर ही सर्वज्ञता हो सकती है। इसलिये जिसने सर्वज्ञत्व को अपना स्वरूप माना हो, वह राग को अपना स्वरूप नहीं मानता है। जो राग को अपना मानता है, वह सर्वज्ञता को अपना नहीं मानता, क्योंकि जहाँ राग है, वहाँ सर्वज्ञता नहीं होती। जो अपने स्वरूप को सर्वज्ञ नहीं मानता, वह अपने देव के स्वरूप को भी सर्वज्ञ नहीं मानता और जो अपने देव के स्वरूप को यथार्थ नहीं मानता है, वह नास्तिक है, जैन नहीं।

— पूज्य कानजीस्वामी

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

जीव के नौ अधिकार कहे हैं। अब उनका विस्तार से विवेचन करते हैं। सबसे पहले जीव का स्वरूप कहते हैं :-

तिक्काले चदुपाणा इंदियवलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स॥३॥

इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छवास ऐसे चार प्रकार के प्राणों से संसारदशा में जीव त्रिकाल जीता है। यहाँ जो त्रिकाल चारों प्राणों से जीता है, ऐसा कहा है, वह जहाँ तक संसारदशा हो, वहाँ तक की बात समझना चाहिये। यह व्यवहारनय की बात है। निश्चयनय से तो जीव त्रिकाल चैतन्यप्राण से ही जीता है।

देखिये! बहुत सी बातें आ जाती हैं। जगत में इन्द्रियाँ जड़ हैं, उनके साथ जीव का संबंध है, यह सब स्वीकार करने में आया। समयसार में इसप्रकार कहा है कि 'सम्यग्दृष्टि जितेन्द्रिय है'। उसमें भी इतनी बात आ जाती है कि जीव की पर्याय में खंड-खंड ज्ञानरूप भावेन्द्रिय है, उसके निमित्तरूप जड़द्रव्येन्द्रियाँ हैं, और उनके विषयरूप परद्रव्य हैं। इन सबको स्वीकार करे और वह तीनों से पार (दूर) अखंड चैतन्यस्वभाव को जाने तो वह स्वभाव के आश्रय से इंद्रियों को जीतकर जितेन्द्रिय होता है।

जीव का स्वभाव त्रिकाल चैतन्यप्राणरूप है। वह तो इंद्रियों से अगोचर है। उस अतीन्द्रिय चैतन्यप्राण के प्रतिपक्षरूप ऐसा क्षायोपशमिक इंद्रियप्राण है, उससे जीता है, इसलिये व्यवहार से जीव है। जीव का स्वभाव अपार अनंतवीर्य है, अनंतवीर्यरूप बलप्राण जीव में त्रिकाल है। उसके अनंतवें भाग में हीन परिणमन हुआ, वह मनबल, वचनबल और कायबल है। देखिये! मन, वचन और शरीर तो जड़ हैं और उस निमित्त की ओर के

झुकाववाला वीर्य भी अनंतवें भाग हीन परिणमित हो गया है। उस बलप्राण से जीता है, वह व्यवहार से जीव है और निश्चय से तो अनंत वीर्यरूप बलप्राण से जीता है, वह जीव है।

शुद्ध निश्चय से तो जीव अनादि-अनंत शुद्ध चैतन्यप्राण से जीनेवाला है, इसमें आयु नहीं है। इस स्वभाव से विपरीत सादि-सांत आयु की योग्यता - यह व्यवहारप्राण है, और आयु जड़ है - यह भी व्यवहारप्राण है। त्रिकाली शुद्धप्राण को निश्चय कहा तथा जड़ का संयोग और क्षणिक योग्यता, इन दोनों को व्यवहारप्राण कहा। इसप्रकार का निश्चय-व्यवहार का कड़ीबद्ध (संधिबद्ध) कथन जैनदर्शन के अतिरिक्त दूसरी जगह नहीं होता। द्रव्य-गुण-पर्याय और संयोग, इन सबको जैसे हैं, वैसे न जाने और एक को भी उड़ा दे तो मिथ्याज्ञान हो जाता है।

जड़-श्वासोच्छ्वास और उस प्रकार की जीव की योग्यता ऐसे श्वासोच्छ्वास प्राण से तो जीव व्यवहार से जीता है। निश्चय से जीवस्वभाव तो श्वासोच्छवास के आवागमन से उत्पन्न होनेवाला जो खेद उससे रहित है, शुद्ध चैतन्यप्राणस्वरूप है; किंतु व्यवहार में श्वासोच्छवास है, वह जानना चाहिये। इस तरह चार प्रकार के द्रव्यप्राण और भावप्राण से जो जिया है, जीता है और जियेगा, वह जीव है।

जगत् में ऐसे चार प्राणसहित अनंत जीव सदा रहनेवाले हैं, उस अपेक्षा से यह बात है। सब जीवों को चार प्राण हमेशा रहते ही हैं, ऐसा नहीं है। ऐसा हो तो कभी मुक्ति ही न हो। संसार में चार प्राण सहित रहनेवाले जीव हैं, वे तो पर-ज्ञेय हैं। आप आपमें ऐसा भान करे कि ये चार प्राण तो व्यवहार हैं, निश्चय से मैं शुद्ध चैतन्यप्राणस्वरूप हूँ। ऐसा भान करके स्वयं चार प्राणों का अभाव करके सिद्ध हो जाता है।

अनंतकाल से आत्मा क्या है ? यह नहीं जाना। आत्मा क्या है, उसको जानने में कैसा पुरुषार्थ होता है तथा कैसे निमित्त होते हैं ? वह कभी यथार्थ रीति से नहीं जाना। शुद्ध चैतन्य को जानकर उसको साधनेवाले संत ही सम्यग्ज्ञान में निमित्त होते हैं। जीव अनादि से है। वह अनादि से शुद्ध नहीं है। पहिले उसकी पर्याय में भूल थी, बाद में स्वभाव का भान कर वीतराग होकर सर्वज्ञता प्रगट की। ऐसे सर्वज्ञदेव ने जीव का यथार्थ वर्णन किया। ऐसे सर्वज्ञदेव, उनकी कही हुई वाणी, और उस सर्वज्ञता को साधनेवाले (सिद्ध करनेवाले) गुरु, वही सम्यग्ज्ञान में निमित्त होते हैं। साधकदशा में बीच में राग हो, तब ऐसे सत्निमित्तों पर लक्ष्य जाता है, किंतु कुदेव के प्रति आदरभाव नहीं होता - नहीं आता।

लोग कहते हैं कि 'वसु बिना नर पशु'। जहाँ जड़लक्ष्मी का तो आत्मा में अभाव ही है, किंतु आत्मा की चैतन्यलक्ष्मी के भान से रहित जीव पशु समान है। उस आत्मा का विराधक होकर निगोद वगैरह पशु (तिर्यंचगति) होता है। और जिन जीवों ने यथार्थ स्वभाव का भान किया, वे जीव आराधक होकर अल्पकाल में सिद्ध होते हैं। शुद्ध चैतन्यतत्त्व क्या है ? उसके आराधक जीव कैसे हों ? यह जानकर स्वयं (आप) स्वभाव का आराधक होकर सिद्धदशा प्राप्त करता है। इसलिये यहाँ सर्वज्ञदेव ने ज्ञान में प्रत्यक्ष देखे हुए और वाणी से कहे हुये जीव-अजीव आदि द्रव्यों का वर्णन किया है। लेकिन पहिले ऐसा कहनेवाले सत्यार्थ देव-गुरु-शस्त्र को पहिचानना चाहिये और उससे विरुद्ध कहनेवाले कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को त्यागना चाहिये, छोड़ना चाहिये। देखिये भाई ! यदि तुझे चैतन्यतत्त्व की मुक्तदशा प्रगट करना हो, तो पहिले सत्समागम से उसका यथार्थ ज्ञान कर।

शुद्धनिश्चय से जीव के त्रिकाल चैतन्यपना है, वह इंद्रियों से रहित है; किंतु व्यवहार से पर्याय मे जड़इंद्रियों का संबंध है और ज्ञान में भी भावेन्द्रिय की योग्यता है। जड़इंद्रियों के प्राण को जीव के कहना अनुपचरित असद्भूतव्यवहार है। 'अनुपचरित' इसलिये है कि उसके साथ निकट का संबंध है। किंतु वह चैतन्यसत्ता से भिन्न है, अतः असद्भूत है। और पर्याय में निमित्त की अपेक्षा द्रव्यप्राण के साथ संबंध है, इसलिये उसको व्यवहार कहा।

इंद्रियाँ वगैरह जड़ प्राण अवश्य हैं, लेकिन वे जीव के स्वभाव से पृथक् हैं। जीव का स्वभाव तो इंद्रियों से भिन्न शुद्ध चैतन्यप्राण है। ऐसा समझे तो परमार्थ-स्वभाव की ओर झुके और धर्म हो। द्रव्यप्राण है, इसका ज्ञान तो कराया। द्रव्येन्द्रियाँ हैं, उनको जाने ही नहीं तो ज्ञान ही खोटा है - मिथ्या है। उन द्रव्येन्द्रियों से भिन्न चिदानंदस्वभाव है, उसको न जाने और द्रव्येन्द्रियों को आदरणीय माने, तब भी मिथ्याज्ञान है।

किंतु पर्याय में द्रव्येन्द्रिय की ओर का झुकाववाला जो खंड-खंड ज्ञान है, वह भावेन्द्रियाँ हैं। यह अशुद्ध निश्चयनय से जीव के प्राण हैं। भावेन्द्रिय अर्थात् खंड-खंड ज्ञान, वह स्वयं की पर्याय है। लेकिन वह अशुद्ध पर्याय है, इसलिये उसको अशुद्ध निश्चयनय कहा है। भावेन्द्रिय यह स्वयं का अंश है। जो उसको परपदार्थ मानता है तो अज्ञान है और उस अंश जितना ही संपूर्ण आत्मा मान ले तो भी पर्यायमूढ़ अज्ञानी है। वर्तमान अंश को अंश जितना जाने और त्रिकालीस्वभाव को जाने, उसका आदर करे तो सम्यग्ज्ञान और धर्म होता है।

द्रव्य, पर्याय और निमित्त इन सबको जैसे हैं, वैसे जानकर शुद्धद्रव्य का आदर कर उसमें एकाग्र होना, यह मोक्ष का कारण है। ज्ञान का क्षयोपशम इंद्रियों की ओर जाकर खंड-खंडरूप होता है, वह अशुद्ध पर्याय है; किंतु वह स्वयं की ही पर्याय है, अतएव निश्चय है। इसप्रकार जड़प्राणों को तो असद्भूत कहकर जीव से भिन्न बताया और भावप्राणों को अशुद्ध निश्चयनय कहकर ऐसा बताया कि उस भावप्राण जितना तेरा तत्त्व (स्वरूप) नहीं है। इसप्रकार द्रव्यप्राण और भावप्राण से रहित जो शुद्ध चैतन्यसत्तारूप प्राण है, वह शुद्ध निश्चय से है।

मेरा अंतर्मुखी वास्तविक जीवन तो शुद्धचैतन्य, सत्ता, बोध वगैरह शुद्धभावप्राणरूप है। जड़इंद्रियों से मेरा कोई संबंध नहीं और खंड-खंडरूप क्षणिक ज्ञान के आधार पर भी मेरा जीवन नहीं है। मेरा यथार्थ जीवन तो शुद्ध चैतन्यसत्ता और ज्ञानस्वरूप है। यह शुद्ध निश्चयनय का विषय है और ऐसा शुद्ध स्वभाव ही उपादेय है। जीव शुद्ध निश्चयनय से जड़इंद्रियों अथवा खंड-खंड ज्ञान को नहीं मानता। शुद्ध निश्चयनय तो उपादेयरूप शुद्ध चैतन्यमय जीव को ही ग्रहण करता है। ऐसा शुद्ध चैतन्यसत्तास्वरूप जीव ही उपादेय है, उसके ही आश्रय से मोक्ष होता है। अरे! ऐसी बात किसने की, कि जिनको अंतरंग में शुद्धस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई है, संतों का ऐसा कथन है। इसके अतिरिक्त जो परनिमित्त के आश्रय से अथवा दया आदि के शुभराग के आश्रय से संसार का नाश होना (स्वयं की मुक्ति) मानता हो, वह ठीक नहीं है। अशुद्धता का नाश अशुद्धता के आश्रय से नहीं होता, किंतु शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के ही आश्रय से अशुद्धता का नाश होता है। अतएव संतों का कथन है कि शुद्ध चैतन्यजीव ही उपादेय है।

जिनको ऐसी पूर्ण साध्य की दृष्टि प्रगट हुई है, ऐसे संत ही ऐसी बात कर सकते हैं। जिसको अभी पूर्ण साध्य का पता नहीं और राग से धर्म मानता है, वह तो अज्ञानी है। अभी जिसको पूर्ण सत्य की खबर नहीं, वह जीव किसके आश्रय से साधक-दशा प्रगट करेगा? त्रिकाली शुद्धस्वभाव, प्रतिक्षण होती हुई उसकी पर्याय, उसमें अशुद्धता और भावप्राण की योग्यता, उसमें जड़प्राणों का निमित्त – ऐसा सब जाने और उसमें से शुद्ध जीव को आदरणीय माने, वही सत्यजीवन जीता है। बाकी तो सब चलते-फिरते मुर्दे जैसे हैं। अष्टपाहुड़ में आचार्यदेव ने मिथ्यादृष्टि को चलता-फिरता मुर्दा कहा है।

अरे! शुद्ध चैतन्यसत्ता का जिसको ज्ञान नहीं और राग से तथा पर के आश्रय से कल्याण मानता है, वह भी परमार्थ से जो चार्वाक जैसा है। [क्रमशः]

चार पुरुषार्थ

'पद्मनंदि पंचविंशतिका' पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन अनेक बार हुए हैं। उसमें 'देशव्रतोद्योतनम् अधिकार' के पच्चीसवें श्लोकपर हुए मार्मिक प्रवचनों का सार आत्मधर्म के जिज्ञासु पाठकों के लिये यहाँ दिया जा रहा है। मूल श्लोक इसप्रकार है :-

पुंसोऽर्थेषु चतुर्थ निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोपि नो संमतः
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते ॥२५॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों में केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन [बाधारहित] सुख से युक्त होकर सदा स्थिर रहनेवाला है। शेष तीन पुरुषार्थ उससे विपरीत [अस्थिर] स्वभाववाले हैं। अतएव वे मुमुक्षुजनों के लिये छोड़नेयोग्य हैं। जो धर्म पुरुषार्थ उपर्युक्त मोक्ष पुरुषार्थ का साधक होता है, वह भी हमें अभीष्ट है, किंतु जो धर्म केवल भोगादि का ही कारण होता है, उसे विद्वज्जन पाप ही समझते हैं।

यह पद्मनंदि पंचविंशतिका शास्त्र वनवासी दिगम्बर मुनिराज पद्मनंदि द्वारा ९०० वर्ष पहले लिखा गया था। इस पर यह तीसरी बार प्रवचन चल रहा है। इसके पूर्व वीर नि० सं० २४७४ और २४८१ में दो बार प्रवचन और हो चुके हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों में मात्र मोक्ष ही निश्चय, अविनाशी और सत्यसुखरूप है। शेष तीन तो इससे विपरीत स्वभाववाले हैं अर्थात् अस्थिर और दुःखरूप हैं, अतः मुमुक्षु के लिये वे हेय हैं और केवल मोक्ष ही उपादेय है। तथा उस मोक्ष के साधनरूप वर्तता होवे, वह धर्म भी हमें मान्य है, संमत है - अर्थात् मोक्षमार्ग को साधते-साधते उसके साथ महाव्रत अथवा अणुव्रत के जो शुभभाव होते हैं, वे तो संमत हैं, क्योंकि वे भी व्यवहार से मोक्ष के साधन हैं; परंतु जो मात्र भोगादि के निमित्त हैं, उन्हें तो पंडितजन पाप कहते हैं।

भाई! उत्तम सुख का भंडार तो मोक्ष है, अतः मोक्ष पुरुषार्थ ही सर्व पुरुषार्थ में श्रेष्ठ है।

पुण्य का पुरुषार्थ भी इसकी अपेक्षा हल्का है; और संसार के विषयों की प्राप्ति हेतु जितने प्रयत्न हैं, वे तो एकदम पाप हैं, अत: वे सर्वथा त्याज्य हैं। अब साधक को पुरुषार्थ के साथ अणुव्रतादि शुभरागरूप जो धर्म-पुरुषार्थ है, वह असद्भूत व्यवहार से मोक्ष का साधन है, अत: श्रावक की भूमिका में वह भी व्यवहारनय के विषय में ग्रहण करनेयोग्य है। मोक्ष का पुरुषार्थ तो सर्वश्रेष्ठ है, परंतु उसके अभाव में (अर्थात् निचली साधकदशा में) व्रत-महाव्रतादिरूप धर्म-पुरुषार्थ जरूर ग्रहण करना चाहिये। अज्ञानी भी पाप छोड़कर पुण्य करता है तो इसे कोई अस्वीकार नहीं करते, पाप की अपेक्षा तो पुण्य भला ही है। परंतु कहते हैं कि भाई! मोक्षमार्ग बिना तेरा अकेला पुण्य शोभा नहीं पाता है, क्योंकि जिसे मोक्षमार्ग का लक्ष्य नहीं, वह तो पुण्य के फल में मिले हुये भोगों में आसक्त होकर पुन: पाप में चला जावेगा। अत: बुधजन-ज्ञानी-विद्वान् ऐसे पुण्य को परमार्थ से तो पाप कहते हैं। [देखो, योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार दोहा नं० ७१-७२, समयसार गाथा १६३ एवं श्री जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका में परिशिष्ट पुण्य-पाप अधिकार।]

मोक्ष में ही सच्चा सुख है, ऐसा जो समझे, वह राग में या पुण्य-फल में सुख कैसे माने? - नहीं ही माने। जिसकी दृष्टि अकेले राग में है और उसके फल में जिसे सुख लगता है, उसे तो शुभभाव के साथ भोग की अभिलाषा पड़ी है, अत: इस शुभ को मोक्षमार्ग में मान्य करते नहीं, मोक्ष के साधन का व्यवहार उसे लागू नहीं पड़ता। धर्मी को मोक्षमार्ग साधते-साधते बीच में अभिलाषारहित और श्रद्धा में हेयबुद्धिसहित शुभराग रहता है, उसमें मोक्ष के साधन का व्यवहार लागू पड़ता है। परंतु शुरु से ही जो राग को श्रद्धा में इष्ट मानकर अपनाता है, वह राग से दूर कैसे होवेगा? और रागरहित मोक्षमार्ग में कहाँ से आवेगा? ऐसे जीव के शुभ को तो 'भोगहेतु धर्म' समयसार में कहा है; उसे मोक्षहेतु धर्म नहीं कहते। मोक्ष के हेतुभूत सच्चे धर्म की अज्ञानी को पहचान भी नहीं। रागरहित ज्ञान क्या है, उसे वह नहीं जानता, शुद्धज्ञान के अनुभव का उसे अभाव है; इसलिये मोक्षमार्ग का उसे अभाव है। धर्मी को शुद्धज्ञान के अनुभव सहित जो शुभराग शेष रहा, उसे व्यवहार से धर्म अथवा मोक्ष का साधन कहने में आता है।

नीचे की साधक भूमिका में ऐसा व्यवहार है जरूर, उसे जैसा है, वैसा मानना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं कि इसे ही उपादेय मानकर संतुष्ट हो जाना। वास्तव में उपादेय तो मोक्षार्थी

को निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही है। उसके साथ उस-उस भूमिका में जो व्यवहार होता है, उसे व्यवहार में आदरणीय कहा जाता है।

तीर्थंकरदेव का आदर करना, दर्शन-पूजन करना, मुनिवरों की भक्ति, आहारदान, स्वाध्याय, अहिंसादि व्रतों का पालन, ये सब व्यवहार हैं। वे सत्य हैं, मान्य हैं, आदरणीय हैं; परंतु निश्चयदृष्टि में शुद्धात्मा ही उपादेय है और उसके आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। ऐसी श्रद्धा ही मोक्षमार्ग है। ऐसी श्रद्धा प्रारंभ से ही होनी चाहिये।

व्यवहार को एकांत हेय कहकर कोई जीव देवदर्शन-पूजन-भक्ति, मुनि आदि धर्मात्मा का बहुमान, स्वाध्याय, व्रतादि को छोड़ दे और अशुभ को सेवे, वह तो स्वच्छन्दी और पापी है; शुद्धात्मा के अनुभव में लीनता होते ही ये सब व्यवहार छूट जाते हैं, परंतु उसके पूर्व तो भूमिका के अनुसार व्यवहार के परिणाम होते हैं। शुद्धस्वरूप की दृष्टि और साथ में भूमिका अनुसार व्यवहार - ये दोनों साधक को साथ में होते हैं। मोक्षमार्ग में ऐसा निश्चय-व्यवहार होता है। कोई एकांत ग्रहण करे अर्थात् नीचे की भूमिका में भी व्यवहार को स्वीकार न करे अथवा निश्चय बिना उसे ही सर्वस्व मान ले तो वे दोनों मिथ्यादृष्टि हैं, एकांतवादी हैं, उन्हें निश्चय की अथवा व्यवहार की खबर नहीं।

नय और निक्षेप सम्यग्ज्ञान में होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि के ही वे सच्चे होते हैं। स्वभावदृष्टि हुई - उस समय सम्यक् भावश्रुत हुआ और उस समय प्रमाण और नय सच्चे हुए; बाद में निश्चय क्या और व्यवहार क्या - ऐसी उसको खबर पड़ती है। निश्चयसापेक्ष-व्यवहार धर्मी को ही होता है; अज्ञानी को जो एकान्त व्यवहार है, वह सच्चा मार्ग नहीं अथवा वह सच्चा व्यवहार नहीं। धर्मी जीव शुद्धात्मा को साधते हुए और बीच में भूमिकानुसार व्रतादि व्यवहार का पालन करते हुए अन्त में अनंत सुख के भण्डाररूप मोक्ष को साधते हैं। ऐसा मोक्षमार्ग ही मुमुक्षु का परम कर्तव्य है, अर्थात् वीतरागता कर्तव्य है; राग कर्तव्य नहीं। वीतरागता न हो, वहाँ तक क्रमशः जितना राग घटे, उतना घटाना प्रयोजनवान है।

श्रावकधर्म के मूल में भी सम्यग्दर्शन तो होता ही है। ऐसे सम्यक्त्वसहित राग घटाने का जो उपदेश है, वह हितकारी उपदेश है। भाई! किसी भी प्रकार जिनमार्ग को पाकर तू स्वद्रव्य के आश्रय के बल द्वारा राग घटा, उसमें तेरा हित है; दान आदि का उपदेश भी उसी हेतु दिया

गया है। कोई कहे कि खूब पैसा मिले तो उसमें से थोड़ा दान में लगाऊँ – (दस लाख मिले तो एक लाख लगाऊँ) – इसमें तो उल्टी भावना हुई, लोभ का पोषण हुआ; पहले घर को आग लगा और पीछे कुआँ खोदकर उसके पानी से आग बुझाना, इसप्रकार की यह मूर्खता है। वर्तमान में पाप बाँधकर पीछे दानादि करने को कहता है। इसकी अपेक्षा वर्तमान में ही तू तृष्णा घटा ले न भाई! एक बार आत्मा को जोर देकर तेरी रुचि की दिशा ही बदल डाल कि मुझे राग अथवा राग के फल कुछ नहीं चाहिये, आत्मा की शुद्धता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मुझे नहीं चाहिये। – ऐसी रुचि की दिशा पलटने से तेरी दशा पलट जावेगी, अपूर्व दशा प्रकट हो जावेगी।

इसप्रकार मोक्ष और पुण्यफल दोनों की बात की। फिर भी कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तुझे आदरणीय तो मोक्ष का ही पुरुषार्थ है, पुण्य तो इसका आनुषांगिक फल है अर्थात् अनाज के साथ के घास की तरह यह तो बीच में सहज ही आ जाता है। इसमें भी जहाँ हेयबुद्धि है, वहाँ श्रावक के लिये पाप की तो बात ही कैसी?

इसप्रकार धर्मी श्रावक को मोक्ष पुरुषार्थ की मुख्यता का उपदेश किया और उसके साथ पुण्य के शुभ परिणाम होते हैं, यह भी बताया।

प्रतिदिन एक घंटा सामूहिक स्वाध्याय अवश्य कीजिए।

हमारा नया प्रकाशन :—

पंचमेरु नंदीश्वर पूजन विधान

मूल्य : १ रुपये ५० पैसे

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न– क्या पुण्य और पाप समान हैं ?

उत्तर– जो कोई जीव पुण्य-पाप में भेद मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है और घोर संसार-सागर में डूबेगा – ऐसा प्रवचनसार की गाथा ७७ में कहा है। कारण, कि पुण्य और पाप भाव में अनात्मपना समानरूप से है। व्यवहार से पुण्य और पाप भाव में भेद है, वह ज्ञान करने के लिये है; किंतु परमार्थ से पुण्य-पाप में भेद नहीं है, क्योंकि दोनों में अनात्मपने की अपेक्षा से समानता है।

प्रश्न– ऐसा सुनने और जानने से जीव शुभभाव को छोड़ देंगे ?

उत्तर– यहाँ शुभभाव की रुचि छुड़ाने की बात है; शुभभाव छुड़ाने की बात नहीं है, क्योंकि शुभभाव छूटता नहीं है। भूमिका बढ़ने पर शुभभाव तो बढ़ता जाता है, किंतु उस शुभभाव में ज्ञानी को आत्मबुद्धि नहीं होती।

प्रश्न– अज्ञानी के व्रतादि तो बंध के कारण हैं, किंतु ज्ञानी के व्रतादि तो मोक्ष के कारण हैं न ?

उत्तर– ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, किंतु व्रतादि का शुभराग दोनों को ही बंध का कारण है, मोक्ष का नहीं; क्योंकि वह पर के आश्रय से होनेवाला भाव है। ज्ञानी को जो व्रतादि शुभराग आता है, उसमें भी आकुलता है, उद्वेग है; इसलिये बंध का कारण है। स्वसन्मुख होने पर जो शुद्ध परिणाम होता है, वही मोक्ष का कारण है।

प्रश्न– एक स्थान पर तो ऐसा कहा कि आत्मा के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करो इससे तुम्हारा कल्याण होगा, और दूसरे स्थान ऐसा कहा कि शास्त्र की ओर होनेवाले राग को भी छोड़ दो। ऐसा क्यों ?

उत्तर– पर की तरफ का लक्ष्य बंध का कारण होने से शास्त्र की तरफ का राग भी छुड़ाया है।

और जहाँ आगम का अभ्यास करने के लिये कहा, वहाँ उस आगमाभ्यास में आत्मा का लक्ष्य है; इसलिये व्यवहार से उस आगमाभ्यास को कल्याण का कारण कहा है।

प्रश्न– एक ओर तो कहते हैं कि ज्ञानी का भोग निर्जरा का कारण है और दूसरी ओर कहते हैं कि शास्त्र की ओर जानेवाला लक्ष्य भी शुभराग होने से बंध का कारण है। यहाँ प्रश्न है कि जब शास्त्र–लक्षी शुभराग भी बंध का कारण है तो फिर भोग भोगनेरूप अशुभराग निर्जरा का करण कैसे हो सकता है ?

उत्तर– ज्ञानी के ज्ञान का अचिंत्य माहात्म्य बताने के लिये भोग को निर्जरा का कारण कहा है, भोग की पुष्टि के लिये नहीं। समयसार में एक जगह कहते हैं कि हे ज्ञानी ! तू परद्रव्य के भोग को भोग। ऐसा कहकर आचार्यदेव कहीं भोग भोगने की प्रेरणा नहीं दे रहे हैं, अपितु उनके कहने का आशय यह है कि इस जीव को परद्रव्य के कारण किंचित् भी बंध होता नहीं। शास्त्र में जहाँ जिस आशय से, अभिप्राय से कथन किया गया हो, वहाँ उसी अभिप्राय से समझना चाहिये।

प्रश्न– निज द्रव्य की अपेक्षा बिना पर्याय होती है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर– ध्रुवद्रव्य तो त्रिकाल एकरूप ही है और पर्याय भिन्न–भिन्न रूप से होती है। वह पर्याय अपनी योग्यतानुसार स्वकाल में स्वतंत्ररूप से होती है।

प्रश्न– यदि ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा लेवें तो क्या बाधा है ?

उत्तर– ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा लेने से व्यवहार हो जाता है। पर्याय, पर्याय के स्वकाल से होती है – यह पर्याय का निश्चय है।

प्रश्न– राग आत्मा का नहीं है तो क्या राग जड़ में होता होगा ?

उत्तर– राग जीव का स्वाभाविक परिणाम नहीं है, इसलिये शुभाशुभराग को जड़ और अचेतन कहा है। राग आत्मा का स्वरूप है ही नहीं, चैतन्यपुंज कभी रागरूप हुआ ही नहीं। आत्मा के भान बिना अनन्त बार नवमीं ग्रैवेयक में गया, किंतु सम्यग्दर्शन बिना लेशमात्र भी सुख नहीं पाया। अलिंगग्रहण के बोल में भी यति की क्रिया – पंचमहाव्रतादि का आत्मा में अभाव कहा है। समयसार, गाथा १८१ से १८३ तक में भी कहा है कि जानन–क्रियारूप आत्मा और क्रोधादिक्रियारूप आस्रव – ये दोनों अत्यंत भिन्न हैं। उनके प्रदेश भिन्न होने से दो वस्तुओं की सत्ता ही भिन्न–भिन्न है। बात यह है

कि आस्रव के ऊपर से दृष्टि हटाना और द्रव्य के ऊपर दृष्टि देना, यहाँ यही अभीष्ट है। जहाँ तेरी वस्तु है नहीं, वहाँ से दृष्टि उठा ले और जहाँ तेरी वस्तु है, वहाँ दृष्टि डाल; तभी तुझे सुख और शांति मिलेगी।

प्रश्न– क्या भावलिंग भी जीव का स्वरूप नहीं है ?

उत्तर– द्रव्यलिंग तो सर्वथा ही जीव का स्वरूप नहीं और भावलिंग जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की शुद्ध निर्मल पर्याय है और पूर्ण स्वरूप ऐसे मोक्ष का साधक है – वह भी उपचार से जीव का स्वरूप कहा गया है; परमार्थ सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। साधकपर्याय को – द्रव्य की है, ऐसा उपचार से कहा गया है। देहादि अथवा रागादि तो जीव के हैं ही नहीं; परंतु यहाँ तो भावलिंग की पर्याय जो मोक्ष की साधक है, उसे भी जीव की है, ऐसा उपचार से कहा गया है। पर्याय का लक्ष्य छुड़ानेवाली, भेदज्ञान की पराकाष्ठा को छूनेवाली परमात्मप्रकाश की ८८वीं गाथा में यह बात कही है। ध्रुवस्वभाव के सन्मुख जो ध्यान की अकषाय साधकपर्याय प्रगट होती है, वह भी उपचार से जीव का स्वरूप है। परमार्थ से तो त्रिकाली ध्रुवस्वभाव ही जीव का स्वरूप है – ऐसी बात तो किसी महाभाग्यशाली के ही कर्णगोचर होती है।

प्रश्न– द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु के ध्यान से केवलज्ञान होता है। इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर– द्रव्यपरमाणु अर्थात् आत्मद्रव्य और भावपरमाणु अर्थात् शुद्ध निर्मलपर्याय। आत्मद्रव्य के ध्यान से शुद्धपर्याय और मोक्ष होता है।

प्रश्न– जड़ में अनुभूति होती है क्या ?

उत्तर– हाँ, जड़ में भी अनुभूति होती है। उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप परिणमन करना ही जड़ में अनुभूति होना कहा जाता है।

प्रश्न– मिथ्यात्व का नाश स्वसन्मुख होने से होता है। तो क्या यही एक उपाय है या कोई और दूसरा उपाय भी है ?

उत्तर– स्वाश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश होता है, यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय प्रवचनसार गाथा ८६ में बताया है कि स्वलक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना उपायांतर अर्थात् दूसरा उपाय है। इससे मोह का क्षय होता है।

समाचार दर्शन

सोनगढ़ : पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का स्वास्थ्य अचानक खराब हो जाने से उनके भावनगर से लाठी तक के कार्यक्रम जो कि २४ फरवरी, १९७७ से ९ मार्च तक के थे, निरस्त किये गये हैं। उनका स्वास्थ्य अब सुधार पर है। चिंता जैसी कोई बात नहीं है।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

मद्रास : दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल के तत्त्वावधान में यहाँ दिनांक २६-४-७७ से दिनांक ३-५-७७ तक श्री जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव होना निश्चित हुआ है। इसमें पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की पधारने की स्वीकारता भी प्राप्त हो चुकी है। पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों के अतिरिक्त अन्य पधारनेवाले विद्वानों के प्रवचनों का भी लाभ प्राप्त होगा। सभी तत्त्वप्रेमी साधर्मी भाईयों से सानुरोध प्रार्थना है कि अवश्य ही पधारकर धर्म लाभ लें।

- प्रमुख, दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, मद्रास

श्री वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की निरीक्षण रिपोर्ट

समिति के निरीक्षक पंडित गोविंदप्रसादजी जैन खडेरीवालों ने गतांक में प्रकाशित रिपोर्ट के पश्चात् हीरापुर, अमरमऊ, शाहगढ़, द्रोणगिरि, रामटोरिया, भगवां, दरगुवां, लार, बड़ागांव, ककरवाहा, घौरा, पठा, कुम्हैड़ी, ललितपुर, बानपुर, जखौरा, झाँसी, चिरगाँव, मौ, अमायन, भिंड, इटावा और आगरा आदि स्थानों पर चल रहीं ३७ पाठशालाओं का निरीक्षण किया।

जब वे जयपुर पधारे, तब उन्होंने प्रत्यक्षदर्शी के नाते जो मौखिक रिपोर्ट दी, उससे बहुत संतोष हुआ। उन्होंने बताया कि प्राय: सभी छोटे-बड़े नगरों में वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं के चलाने में समाज के बच्चे-बूढ़ों से बड़ा सहयोग मिल रहा है, उनमें तीव्र लगन और उत्कंठा है।

सर्वत्र पंडितजी का स्वागत होना व उनके प्रवचनों में रुचिपूर्वक भाग लेना तथा उनसे अधिक समय तक रुकने का आग्रह करना, उत्साहित होकर बच्चों को पुस्कार व मिष्टान्न वितरण करना, नियमित सामूहिक स्वाध्याय प्रारंभ करना, आत्मधर्म के आजीवन एवं वार्षिक ग्राहक बनना आदि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यहाँ से वे करेली (नरसिंहपुर-म.प्र.) में दिनांक १९-२-७७ से होनेवाले वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव के लिये रवाना हो गये। **-मंत्री,** भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति

वार्षिक मेला महोत्सव

मक्सीजी : श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, मक्सी पार्श्वनाथ का वार्षिक मेला महोत्सव १२ एवं १३ मार्च, १९७७ को विविध कार्यक्रमों के साथ संपन्न हो रहा है। आध्यात्मिक प्रवक्ता श्री पंडित बाबूभाई मेहता के पधारने की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है।

इस अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट की तीर्थ-सर्वेक्षण पार्टी का उद्घाटन, नवनिर्मित महावीर विश्रांतिगृह का उद्घाटन, श्री वीतराग-विज्ञान पाठशाला उज्जैन द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम, मध्यप्रदेश नवयुवक सम्मेलन, महिला सम्मेलन, आदि अनेक कार्यक्रम आयोजित किये गये हैं। **-फूलचंद झांझरी,** मंत्री, उज्जैन

चांदखेड़ी : श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, चाँदखेड़ी (राजस्थान) में ११ मार्च से १३ मार्च तक वार्षिक मेला बड़े उत्साहपूर्वक मनाया जायेगा। इस अवसर पर श्री युगलजी, कोटा आदि अनेक विद्वानों को आमंत्रित किया है। उनके प्रवचनों के साथ-साथ कवि-सम्मेलन आदि विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों का लाभ भी प्राप्त होगा।

-केवलचंद पाण्ड्या, उपमंत्री

आवश्यक सूचनाएँ

(१) श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जयपुर की ग्रीष्मकालीन परीक्षायें इस वर्ष दिनांक २ व ४ जुलाई, १९७७ को होंगी; अतः इन परीक्षाओं में सम्मिलित होने के लिये पाठशालाओं को ३० अप्रेल, १९७७ तक प्रवेश फार्म भरकर भेज देना चाहिये। लेट फीट के साथ २० मई तक भेज सकते हैं। शीतकालीन परीक्षायें दिनांक १४, १४ व १६ फरवरी को सर्वत्र सानंद संपन्न हो गयी है। **-मंत्री,** परीक्षा बोर्ड

(२) अखिल जैन समाज लश्कर के मंत्री श्री महेन्द्रकुमार जैन के अत्यंत आग्रहपूर्ण आमंत्रण-पत्रों के कारण श्री डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल ने इस वर्ष महावीर जयंती के अवसर पर ग्वालियर जाना निश्चित कर लिया है। हमारे पास अभी भी अनेक स्थानों से आमंत्रण-पत्र

प्राप्त हो रहे हैं। चूँकि कार्यक्रम निश्चित हो गया है, अत: अब भारिल्ल साहब का अन्यत्र जाना संभव नहीं है। **- अखिल बंसल**

मानस्तंभ-प्रतिष्ठा सानंद संपन्न

सीकर : दीवानजी की नसियाँ में दिनांक २५ जनवरी से २ फरवरी तक सिद्धचक्र मंडल विधान एवं मानस्तंभ प्रतिष्ठा महोत्सव बड़े ही उत्साह से प्रतिष्ठाचार्य पंडित पन्नालालजी द्वारा संपन्न हुआ। इस अवसर पर डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल, जयपुर के दिनांक ३१-१-७७ से २-२-७७ तक प्रतिदिन प्रात: एवं सायंकाल मोक्षमार्गप्रकाशक पर मार्मिक प्रवचन हुए, जनता बहुत प्रभावित हुई। आत्मधर्म के सात आजीवन व अनेक वार्षिक ग्राहक बने। इस अवसर पर टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा धार्मिक साहित्य का बुकस्टाल भी लगाया गया। **- राजेन्द्र**

वेदी-प्रतिष्ठा एवं शिक्षण-शिविर सानंद संपन्न

करेली [जिला नरसिंहपुर, म.प्र.] - १५ फरवरी से २१ फरवरी तक श्री दिगंबर जैन मंदिर में वेदी-प्रतिष्ठा के उत्सव के साथ-साथ धार्मिक शिक्षण-शिविर का समारोह भी आयोजित किया गया था। प्रतिष्ठा का संपूर्ण कार्य श्री पंडित धन्नालालजी लश्कर एवं पंडित भुवनेन्द्रकुमारजी जबलपुर द्वारा संपन्न हुआ।

इस अवसर पर लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवचनकार पंडित बाबूभाई के पधारने से बहुत अधिक धर्मप्रभावना हुई। उनके प्रवचनों का लाभ आस-पास की समस्त समाज को मिला। पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा, पंडित चिमनभाई, पंडित अभयकुमारजी जबलपुर, पंडित गोविन्दप्रसादजी खडेरी, ब्रह्मचारी बाबूलालजी बरायठा आदि अनेक विद्वानों व व्रतियों के पधारने से शिक्षण-शिविर में अभूतपूर्व आनंद रहा। धार्मिक साहित्य बिक्री के साथ-साथ 'आत्मधर्म' के भी अनेक ग्राहक बने। **- पंडित ज्ञानंचद जैन**

आवश्यकता है - एक ऐसे विद्वान की जो संस्कृत, प्राकृत शास्त्रों का संपादन एवं अनुवाद तथा प्रेस मैटर तैयार करके उसे छपाने आदि का सब कार्य एवं ट्रस्ट के कार्य को गति प्रदान कर सके। वेतन योग्यतानुसार। **- मंत्री,** श्री वीतराग सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
६०२, कृष्णनगर, भावनगर (गुजरात) ३६४००१

पाठकों के पत्र

जयपुर (राज०) से श्री नगेन्द्रकुमारजी बिलाला लिखते हैं :-

आत्मधर्म का हर पृष्ठ पठनीय है। सभी लेख मौलिक और सुंदर है। इसके अंकों की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें सभी पहलुओं को आधार बनाया है, जिससे प्रबुद्ध वर्ग को सहज ही लाभ हो जाता है। दिगम्बर जैन समाज को इस पत्र ने जागृत किया है और पतन के मार्ग से बचाया है। मेरी ऐसी मान्यता है कि यह पत्रिका समाज के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

अलीगढ़ (राज०) से श्री राजमलजी गोधा, एम.ए., बी.एड. लिखते है :-

पूज्य स्वामीजी द्वारा अध्यात्म जैसे गहन व सूक्ष्म विषयों को सरलता एवं सरसता के साथ समझाया जाता है। आत्मधर्म में उन्हीं के अनेकांतयम प्रवचनों का अपूर्व संग्रह किया जाता है, यह अत्यंत प्रसन्नता की बात है। स्वामीजी से लिये गये इंटरव्यू 'चैतन्य चमत्कार' तथा 'सम्यग्ज्ञानदीपिका' से तो समाज में व्याप्त अनेक भ्रांतियाँ दूर हुई हैं। ज्ञान-गोष्ठी, संपादकीय, उत्तम संकलन, सुंदर एवं आकर्षक प्रकाशन भी इसकी अपनी विशेषता है।

इंदौर (म.प्र.) से श्री कमलचंदजी जैन 'राजकमल' लिखते हैं:-

आत्मधर्म के चार-पाँच अंक पढ़े। पढ़कर काफी प्रभावित हुआ। मुझे सभी अंक काफी आत्मोद्धारक लगे। इस पत्रिका की भाषा सरल, सरस और आत्महित के लिये उपयोगी सिद्ध हुई है।

फिरोजाबाद (उ.प्र.) से श्री सूरजभानजी लिखते हैं:-

मैं पिछले १० वर्षों से आत्मधर्म का नियमित पाठक हूँ। जब से आत्मधर्म जयपुर से प्रकाशित हुआ है, तब से आत्मधर्म पत्रिका समयानुकूल होकर जैन समाज की आज सर्वश्रेष्ठ पत्रिका हो चुकी है। सोनगढ़ के नाम पर समाज में अनेक भ्रांतियाँ फैली हुई थीं, वे आत्मधर्म में प्रकाशित इंटरव्यू 'चैतन्य चमत्कार' व 'सम्यग्ज्ञान दीपिका'; तथा 'परस्त्री का भोग तो महापाप है' व 'उस गृहस्थ को धिक्कार है' ने निर्मूल कर दी हैं। आत्मधर्म पढ़ने से सभी शंकाओं का समाधान स्वत: हो जाता है।

बरेली (म.प्र.) से श्री अभिनंदनकुमारजी लिखते हैं :-

जनवरी अंक में जो मार्दव के संबंध में लेख है, वह बहुत ही प्रभावित करता है और पढ़ते ही बनता है। ज्ञान-गोष्ठी से शंकाओं का समाधान हो जाता है।

इंदौर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष, प्रोफेसर डॉ. देवेन्द्रकुमारजी जैन लिखते हैं:-

पत्र की प्रकाशन व्यवस्था का नियमन प्रशंसनीय है। जहाँ तक वस्तु-विषय का संबंध है, वह विशेष दृष्टिकोण से संबद्ध है और यह दृष्टिकोण ऐसा है कि जो मनुष्य को व्यावहारिक जीवन में उदार और सहिष्णु बना सकता है। मुझे विश्वास है कि 'आत्मधर्म' इस दृष्टि से लोगों को व्यापक 'समझ' देगा।

रतलाम (म.प्र.) से श्री कैलाशचंदजी पाटनी लिखते हैं:-

जब से आत्मधर्म जयपुर से नई साज-सज्जा के साथ प्रकाशित होने लगा, तब से तो आत्मधर्म के आगामी अंक आने की प्रतीक्षा-सी लगी रहती है। पहले अंक में पूज्य स्वामीजी का इंटरव्यू तो हृदय पर अमिट छाप छोड़ गया। बाद के अंकों में उत्तम क्षमा व मार्दव के बारे में लेख काफी रुचिपूर्ण हैं। आशा है आप दशों धर्मों के साथ-साथ अन्य विषयों पर ऐसे ही लेख हमें देते रहेंगे।

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें :-

(१) आत्मधर्म के पूरे वर्ष के अंक सुरक्षित रखिये एवं अंत में उनकी फाइल बना लीजिये। हमारे पास अक्टूबर, नवंबर एवं जनवरी के अंक समाप्त हैं। जिनके पास ये अंक हों और वे फाइल बनाने में रुचि न रखते हों, वे कृपया हमें भेज दें, ताकि हम पूरे सैट बना सकें।

(२) कुछ सज्जनों के डबल नाम आ जाने से उन्हें डबल आत्मधर्म प्राप्त होते रहे हैं; जिन्हें डबल अंक मिले हों, वे कृपया उक्त अंक अवश्य वापस भिजवाने का कष्ट करें।

(३) आत्मधर्म का वर्ष जुलाई से जून तक है। अत: जो अभी (मार्च १९७७) से आत्मधर्म के सदस्य बनना चाहते हैं वे कृपया ८) रुपये भिजवावें ताकि उन्हें मार्च ७७ से जून ७८ तक का ग्राहक बनाया जा सके।

(४) जिन सज्जनों के पास कच्ची रसीद बुकें हों, वे कृपया वापस भिजवाने का कष्ट करें। यदि वापस नहीं भेजें तो तत्संबंधी पूरी जानकारी रसीद नं० सहित अवश्य दें।

(५) जून में सभी ग्राहकों के अगले वर्ष के मनिआर्डर एक साथ आने से व्यवस्था में कठिनाई के साथ गड़बड़ भी हो जावेगी, अत: आगामी वर्ष का चंदा शीघ्रातिशीघ्र भिजवाने का कष्ट करें। चंदा भिजवाते समय वर्तमान ग्राहक नंबर एवं यह चंदा जुलाई ७७ से जून ७८ तक के लिये है, अवश्य लिखें। आशा है, इस निवेदन पर ध्यान देकर व्यवस्था बनाये रखने में सहयोग करेंगे।

प्रशिक्षण-शिविर गुजरात में

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा संचालित ग्यारहवाँ शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर इस वर्ष प्रांतिज (गुजरात) में दिनांक ८ मई से २७ मई १९७७ तक होना निश्चित हुआ है। उक्त अवसर पर धार्मिक अध्ययन करानेवाले अध्यापक बंधुओं को एवं मुमुक्षु भाईयों को शिक्षण-विधि में प्रशिक्षित किया जायेगा।

उक्त शिविर में विद्वद्वर्य पंडित खीमंचदभाई सोनगढ़, पंडित बाबूभाई मेहत फतेपुर, डॉ० हुकमचंद भारिल्ल जयपुर, पंडित रतनचंदजी शास्त्री विदिशा, पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा, पंडित नेमीचंदजी पाटनी आगरा के पधारने की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है। इनके अतिरिक्त शिक्षण-प्रशिक्षण में सहयोग देनेवाले अनेक प्रशिक्षित अध्यापक भी पधारेंगे।

उक्त अवसर पर समागत विद्वानों के प्रवचनों का लाभ तो प्राप्त होगा ही; साथ में बालकों, प्रौढ़ों और महिलाओं के लिये शिक्षण-कक्षाओं की भी व्यवस्था रहेगी।

धार्मिक शिक्षण-संस्थाओं के अधिकारियों एवं प्रधानाध्यापकों से अनुरोध है कि वे अपने अध्यापक बंधुओं को इस शिविर में अवश्य शामिल करें एवं स्वयं भी पधारें। अध्यापक महोदयों से भी निवेदन है कि वे स्वयं अधिक से अधिक साथियों सहित प्रशिक्षण में अवश्य ही सम्मिलित हों।

समागत बंधुओं के ठहरने एवं भोजनादि की समुचित व्यवस्था रहेगी।

प्रशिक्षण कक्षाओं में सम्मिलित होनेवाले बंधुओं से आग्रह है कि वे निम्नलिखित प्रवेश-प्रतिबंधों पर विशेष ध्यान दें:-

बालबोध-प्रशिक्षण में प्रवेश पाने के लिये बालबोध पाठमाला भाग १, २, ३ की तथा प्रवेशिका-प्रशिक्षण में प्रवेश पाने के लिये वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २, ३ की प्रवेश-प्रतियोगितात्मक लिखित परीक्षा दिनांक ७ मई को दोपहर बाद प्रांतिज में ली जावेगी, जिसमें प्रथम श्रेणी में उत्तीर्णता प्राप्त करना आवश्यक होगा। अत: प्रवेशार्थी उक्त पुस्तकों की पूरी-पूरी तैयारी करके आवें। जो व्यक्ति उक्त पुस्तकें पहले ही उत्तीर्ण कर चुके हैं, उन्हें यह परीक्षा देना आवश्यक नहीं है। ध्यान रहे प्रवेशिका-प्रशिक्षण में उन्हें ही प्रवेश दिया जायेगा जो बालबोध-प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हों।

आपके यहाँ से कितने व कौन-कौन भाई-बहिन शिविर में पधार रहे हैं, इसकी सूचना हमारे जयपुर कार्यालय को तथा निम्नलिखित पते पर दिनांक ३० अप्रेल १९७७ तक अवश्य भेज देवें ताकि उनके ठहरने एवं भोजनादि की समुचित व्यवस्था की जा सके।

श्रीमान् पंडित बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता

मु० पो० फतेपुर (मोटा), जिला सावरकाठा (गुजरात)

— मंत्री, परीक्षा बोर्ड

Reg. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन*

	रु० पैसे		रु० पैसे
समयसार	१२-००	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१०-००
प्रवचनसार	१२-००	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	५-००
पंचास्तिकाय	७-५०	" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)	२-००
नियमसार	५-५०	मैं कौन हूँ?	१-००
अष्टपाहुड़	१०-००	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	०-६५
समयसार नाटक	७-५०	कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य	०-३०
समयसार प्रवचन भाग १	४-५०	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३-००
समयसार प्रवचन भाग २	४-५०	अनेकांत और स्याद्वाद	०-३५
समयसार प्रवचन भाग ३	५-००	तीर्थंकर भगवान महावीर	०-४०
समयसार प्रवचन भाग ४	७-००	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	०-२५
आत्मावलोकन	३-००	सत्य की खोज (कथानक)	प्रेस में
श्रावकधर्म प्रकाश	३-००	अपने को पहचानिए	०-५०
छहढाला (सचित्र)	१-५०	पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और उसकी ग्यारह प्रतिमाएँ	०-३५
द्रव्यसंग्रह	१-२०	अर्चना (पूजा संग्रह)	०-४०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-४०	मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)	०-५०
प्रवचन परमागम	२-५०	बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
धर्म की क्रिया	२-००	बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०	बालबोध पाठमाला भाग ३	०-७०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०	वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०	वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५-००	वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१-६०	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
बालपोथी भाग १	०-२५	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२५
बालपोथी भाग २	०-४०	सुंदर लेख बालबोध पाठमाला भाग १	०-२५
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	३-००	आगम पथ : कानजीस्वामी विशेषांक	३-००
जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०-००	वीतराग-विज्ञान भाग ३	१-००
परमात्म पूजा संग्रह	२-००	(छहढाला पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)	
मोक्षमार्गप्रकाशक	५-००		

*** श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)**

*** पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४**